

बी.ए.पी.एस. स्वामिनारायण संस्था



युवा

अधिवेशन

2019

अमृतसंचय

विशिष्ट योग्यता श्रेणी के लिए
वचनामृत 61 से 120



सत्संग प्रवृत्ति - मध्यस्थ कार्यालय

अनुक्रमणिका

61. ग.प्र.-1.....4	79. ग.प्र.-72..... 36
62. ग.प्र.-4.....5	80. ग.प्र.-74..... 37
63. ग.प्र.-14.....7	81. ग.प्र.-75..... 39
64. ग.प्र.-17.....9	82. ग.प्र.-78..... 41
65. ग.प्र.-24..... 10	83. सारंग.-1..... 42
66. ग.प्र.-32..... 12	84. सारंग.-2..... 44
67. ग.प्र.-34..... 14	85. सारंग.-5..... 46
68. ग.प्र.-38..... 15	86. सारंग.-9..... 47
69. ग.प्र.-48..... 17	87. सारंग.-10 49
70. ग.प्र.-56..... 19	88. कारि.-9 51
71. ग.प्र.-58..... 21	89. लोया-10 53
72. ग.प्र.-59..... 22	90. लोया-16 54
73. ग.प्र.-60..... 24	91. लोया-17 56
74. ग.प्र.-61..... 26	92. पंचाला-3..... 58
75. ग.प्र.-63..... 28	93. ग.म.-15..... 60
76. ग.प्र.-68..... 30	94. ग.म.-16..... 62
77. ग.प्र.-71..... 32	95. ग.म.-29..... 64
78. ग.प्र.-72..... 34	96. ग.म.-35..... 65

97. ग.म.-38.....	67	109. वर.-16	88
98. ग.म.-40.....	68	110. ग.अं.-14.....	90
99. ग.म.-45.....	70	111. ग.प्र.-44.....	92
100. ग.प्र.-19.....	72	112. ग.प्र.-53.....	93
101. ग.म.-48.....	74	113. ग.प्र.-63.....	95
102. ग.म.-53.....	76	114. सांरंग.-18	96
103. ग.म.-58.....	77	115. कारि.-5	97
104. ग.म.-61.....	79	116. कारि.-12	98
105. वर.-2.....	81	117. लोया-5.....	99
106. वर.-14	83	118. ग.म.32.....	101
107. ग.अं.-8	85	119. ग.म.37.....	103
108. वर.-12	86	120. वर.-19	104

विशिष्ट योग्यता श्रेणी

61. गढडा प्रथम - 1 : भगवान के स्वरूप में मन की अखंड वृत्ति

तब श्रीजीमहाराज बोले कि, 'भगवान के स्वरूप में मन की अखंड वृत्ति को रखना, इसके सिवा अन्य कोई भी साधना कठिन नहीं है। जिस मनुष्य की मनोवृत्ति भगवान के स्वरूप में अखंड रहती है, उससे अधिक कोई अन्य प्राप्ति शास्त्रों में नहीं बताई गयी है; क्योंकि भगवान की मूर्ति तो चिन्तामणि के समान है। जिस प्रकार किसी पुरुष के हाथ में चिन्तामणि हो, वह व्यक्ति जिस भी पदार्थ का चिन्तन करेगा, वह उसे तुरन्त प्राप्त होगा, उसी प्रकार जिसके मन की वृत्ति भगवान की मूर्ति में अखंड रूप से रहती है, वह भक्त यदि जीव, ईश्वर, माया और ब्रह्म के स्वरूप को देखने की इच्छा करता है, तो वह उन्हें तत्काल देख सकता है और उसे भगवान के वैकुण्ठ, गोलोक, ब्रह्मधाम आदि धाम भी दिखाई देते हैं। इसलिए, भगवान के स्वरूप में अखंड वृत्ति रखने से बढ़कर कोई भी साधना कठिन नहीं है और उससे अधिक कोई महान उपलब्धि भी नहीं है।'

फिर हरिभक्त सेठ गोवर्धनभाई ने श्रीजीमहाराज से पूछा, 'जिसे भगवान की माया कहते हैं, उसका स्वरूप क्या है?' तब श्रीजीमहाराज बोले, 'भगवान के भक्त को भगवान की मूर्ति के ध्यान के समय जो पदार्थ विघ्न उपस्थित करता है, उसे ही माया कहते हैं।'

62. गढडा प्रथम - 4 : नारदजी जैसी ईर्ष्या

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'भगवान के भक्तों को परस्पर ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए।' तब आनन्दानन्द स्वामी बोले कि 'हे महाराज! ईर्ष्या तो रहती है।' इस पर श्रीजीमहाराज ने कहा, 'यदि ईर्ष्या ही करनी है, तो वह नारदजी जैसी होनी चाहिए। जैसे कि एक बार नारदजी और तुंबरु दोनों वैकुण्ठ में लक्ष्मीनारायण के दर्शन करने गए। उस समय तुंबरु ने लक्ष्मीनारायण के सामने गान प्रस्तुत किया। उससे लक्ष्मी और नारायण, दोनों प्रसन्न हो गए तथा उन्होंने तुंबरु को अपने वस्त्र और आभूषण दे दिए। इससे तुंबरु के प्रति नारदजी में ईर्ष्या उत्पन्न हो गयी और उन्होंने सोचा कि मुझे तुंबरु जैसी गायनविद्या सीखकर भगवान को प्रसन्न करना है।'

फिर नारदजी ने गायनविद्या सीखी और भगवान के सामने गान प्रस्तुत किया; किन्तु भगवान ने कहा, 'तुम्हें, तुंबरु जैसा गाना नहीं आता।' अतः नारदजी ने शिवजी को प्रसन्न करने के लिए तपस्या की और उनसे वरदान प्राप्त कर गायनविद्या सीखी फिर भगवान के समक्ष गान प्रस्तुत किया। तो भी भगवान प्रसन्न नहीं हुए। फिर नारदजी ने सात मन्वन्तर तक यानि कि दो अरब, सोलह करोड वर्ष गायन विद्या का अभ्यास किया और भगवान का गुणगान करते रहे। फिर भी भगवान प्रसन्न नहीं हुए। अन्ततः उन्होंने स्वयं तुंबरु से गायनविद्या सीखी और द्वारिका में श्रीकृष्ण भगवान के सम्मुख गान किया। तब श्रीकृष्ण भगवान प्रसन्न हो गए और उन्होंने अपने वस्त्र-अलंकार नारदजी को भेंट कर दिए। उसी समय से तुंबरु से नारदजी की ईर्ष्या समाप्त हो गई। अतः यदि ईर्ष्या करनी हो तो इस प्रकार की करनी चाहिए कि जिससे ईर्ष्या हो, उसके गुणों का ग्रहण करें और अपने अवगुणों का परित्याग कर दें। यदि ऐसा न हो सके तो भगवान के भक्तों को उसके प्रति द्रोह उत्पन्न करनेवाली ईर्ष्या का सर्वथा परित्याग कर दें।'

63. गढडा प्रथम-14 : अन्ते या मतिः सा गतिः

फिर श्रीजीमहाराज बोले, 'जिसे साक्षात् भगवान की प्राप्ति हुई है, उसे अन्तकाल में उनकी स्मृति रहे या न रहे फिर भी उसका अकल्याण नहीं होता। भगवान उसकी रक्षा करते हैं। और जो पुरुष भगवान से विमुख रहता है, वह यदि बोलते-चलते हुए, बिना कष्ट के देह-त्याग करता है, तो भी उसका कल्याण नहीं होता और वह मरकर यमपुरी में जाता है। कितने ही पापी कसाई होते हैं, जो बोलते-चलते हुए देह-त्याग करते हैं, और कई भगवान के भक्त होते हुए भी उनकी अकाल मृत्यु हो जाती है, तो क्या उन भक्तों का अकल्याण होगा? और क्या उस पापी का कल्याण होगा? बिल्कुल नहीं! यहाँ तो इस श्रुतिवाक्य का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए कि 'इस समय उस भक्त की जैसी मति है, वैसी ही गति अन्तकाल में होती है।' इसलिए जिस भक्त की मति में ऐसा भाव रहता हो कि 'मेरा कल्याण तो हो चुका है।' तो अन्तकाल में

अवश्यरूप से उसका कल्याण हो ही गया है। जिसे सन्त नहीं मिले हैं और भगवान के स्वरूप की भी प्राप्ति नहीं हुई है, उसकी मति में ऐसा हो कि 'मैं अज्ञानी हूँ, और मेरा कल्याण नहीं होगा।' तो उसकी मति के अनुसार ही उसकी गति होगी। जो पुरुष भगवान के दास हो गए हैं, उनको तो कुछ करना शेष नहीं रहा। उनके दर्शनों से तो अन्य जीवों का कल्याण हो जाता है। तब उनका अपना कल्याण होने में कहना ही क्या है? परन्तु, भगवान का दास बनना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि भगवान के जो दास होते हैं, उनके लक्षण ये हैं कि 'देह को मिथ्या जाने, और अपनी आत्मा को सत्य माने, और अपने स्वामी के भोग्य पदार्थों को स्वयं भोगने की इच्छा कभी न करे, तथा अपने स्वामी की इच्छा के विपरीत दूसरा आचरण कभी न करे। - ऐसा हो उसको ही भगवान का दास कहा जा सकता है। जो भगवान का दास होता है, वह यदि देहरूप होकर बरतने लगता है, तो वह प्राकृत भक्त कहा जाएगा!'

64. गढडा प्रथम-17 : सत्संग में कुसंग क्या है?

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'हमारे सत्संग में थोड़ा-सा कुसंग का भाग रह जाता है, उसे आज दूर करना है और यह प्रकरण इस प्रकार चलाना है कि समस्त परमहंसों, सांख्ययोगिनियों (भगवान की भक्त ब्रह्मचारिणी विधवा स्त्रियों), कर्मयोगियों (गृहस्थ भक्तों) तथा अन्य सभी सत्संगियों में इस बात का प्रवर्तन हो जाए! सत्संग में कुसंग क्या है? तो बात करनेवाले उत्साहहीन होकर बिना हिम्मत की बातें करते हैं, वही सत्संग में कुसंग है। ऐसे लोग किस प्रकार की बातें करते हैं? तो वे कहते हैं कि 'भगवान के वचनों का यथार्थरूप में पालन कौन कर सकता है? व्रत-नियमों का यथार्थ पालन कौन कर सकता है? इसलिए जितना हो सके, उतना धर्म-पालन करना चाहिए; क्योंकि भगवान तो अधमों के उद्धारक हैं, वे कल्याण तो करेंगे ही!' तथा वे लोग ऐसी बातें भी कहते हैं कि भगवान के स्वरूप को हमें हृदय में धारण करना है, वह तो अपने किए कभी नहीं हो पाता! वह तो तभी

संभव हो पाता है, जिस पर भगवान की दया होती है!’ इस प्रकार की बिना हिम्मत की बातें करके वे भगवान की प्रसन्नता के साधन, धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति आदि से दूसरों को विमुख कर डालते हैं। इसलिए, आज से हमारे सत्संग में कोई भी इस तरह की बलहीन बातें मत करें; सदा हिम्मत के साथ ही बात करियेगा। यदि कोई इस प्रकार बलहीन बात करे, तो उसे नपुंसक ही समझना और ऐसी बलहीन बातें हो जाएँ, उस दिन उपवास करना।’

65. गढडा प्रथम - 24 : ज्ञान की स्थिति; माहात्म्य की खटाई

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा, ‘यदि किसी भी विषय में अपनी इन्द्रियाँ आकर्षित न होती हों तथा अन्तःकरण में भी अशुभ संकल्प न रहते हों तथा भगवान का निश्चय भी यथार्थरूप से रहता हो, फिर भी यदि भीतर अपूर्णता रहती है और अन्तःकरण सूना रहता है, तो इसका क्या कारण है?’ तब श्रीजीमहाराज बोले, ‘यह भी उस हरिभक्त में एक बड़ी कमी है, कि उसका मन

यद्यपि स्थिर हो चुका है तथा भगवान के प्रति निश्चय भी दृढ़ है, फिर भी हृदय में ऐसा अतिशय आनन्द नहीं आता कि 'मैं धन्य हूँ और कृतार्थ हुआ हूँ। संसार के जीव (लोग) तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा तथा तृष्णा से परेशान होते फिरते हैं और त्रिविध तापों से रात-दिन जलते रहते हैं, किन्तु मुझे तो प्रकट पुरुषोत्तम ने करुणा करके अपने स्वरूप की पहचान करवाई है, तथा काम-क्रोधादि समस्त विकारों से मुक्त कर दिया है तथा मुझे नारद-सनकादिक जैसे सन्तों के सत्संग में रखा है, इसलिए मेरा धन्य भाग्य है।' इस प्रकार का विचार नहीं करता और आठों पहर अतिशय आनन्दमग्न नहीं रहता, यह उसकी बड़ी कमी है। जिस प्रकार से बालक के हाथ में चिन्तामणि दे दिया हो, किन्तु उसे उसका महत्त्व प्रतीत नहीं होता और उसे उसका आनन्द नहीं मिल पाता। उसी प्रकार वह हरिभक्त यह नहीं समझ पाता कि मुझे भगवान पुरुषोत्तम मिले हैं और मेरे अन्तःकरण में मुझे आठों पहर खुमार नहीं रहता कि 'मैं पूर्णकाम हुआ हूँ।' ऐसा नहीं समझता, वह हरिभक्त में सबसे बड़ी कमी है। और जब कभी किसी हरिभक्त का दोष

दिखाई दे, तब यही समझना कि 'यद्यपि इसका स्वभाव सत्संग में शोभास्पद नहीं है, तथापि उसे सत्संग प्राप्त हुआ है, तो वह चाहे साधारण ही क्यों न हो, परन्तु वह सत्संग में पड़ा रहा है, तो उसके पूर्वजन्म का अथवा इस जन्म का संस्कार बहुत बड़ा है, अतः उसे ऐसा सत्संग मिला है।' ऐसा समझकर उसका भी अतिशय गुण ग्रहण करना चाहिए।' इतनी वार्ता करके श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने निवास पर पधारे।

66. गढडा प्रथम - 32 : घोंसले और खूंटे के दृष्टांत से भगवान के स्वरूप में विराम

तब श्रीजीमहाराज ने उत्तर देते हुए कहा कि 'वह युक्ति इस प्रकार है कि अन्तःकरण में गुणों का प्रवेश होता है; सो जब सत्त्वगुण रहता है, तब अन्तःकरण निर्मल हो जाता है तथा भगवान का भजन-स्मरण आनन्दपूर्वक होता है; किन्तु रजोगुण के रहने पर अन्तःकरण विपरीत हो जाता है तथा अनेक संकल्प-विकल्प होने लगते हैं और भजन-स्मरण भी अच्छी तरह नहीं हो पाता और जब तमोगुण रहता है, तब तो अन्तःकरण शून्य हो जाता

है। इसलिए, भजन करनेवाले को गुणों का अवलोकन करके उन्हीं को पहचानना चाहिए और जिस समय सत्त्वगुण रहता हो, उस समय भगवान की मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। तथा तमोगुण के रहने पर कोई भी संकल्प-विकल्प नहीं होता और अंतर शून्य-सा रहता है, उस समय भी भगवान का ध्यान नहीं करना चाहिए। और जब रजोगुण रहता है तब अनेक संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। इसलिए, उस अवस्था में भगवान का ध्यान नहीं करना चाहिए तथा उस समय ऐसा समझना चाहिए कि 'मैं संकल्प से भिन्न हूँ और उस संकल्प को जाननेवाला हूँ तथा मुझमें अन्तर्यामी रूप से पुरुषोत्तम भगवान सदैव विराजमान हैं।' (ऐसा समझकर उच्च स्वर से भगवन्-नामस्मरण करना चाहिए।) जब रजोगुण का वेग मिट जाए, तब भगवान की मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। रजोगुण रहता है, तब अनेक संकल्प-विकल्प होते हैं। उन्हें देखकर उद्विग्न नहीं होना चाहिए, क्योंकि अन्तःकरण छोटे बालक, बन्दर, कुत्ते और बच्चे को खिलानेवालों के सदृश (नटखट) होता है। इस अन्तःकरण का स्वभाव ऐसा है कि बिना प्रयोजन के ही नखरा करता

रहता है। अतः जिसे भगवान का ध्यान करना हो, उसे चाहिए कि वह अन्तःकरण के संकल्पों को देखकर व्यग्र न हो जाए। और अन्तःकरण के संकल्प को माने भी नहीं और स्वयं को तथा अपने अन्तःकरण को पृथक् समझे एवं अपनी आत्मा को पृथक् समझकर भगवान का भजन करते रहे।’

67. गडडा प्रथम - 34 : स्नेहरूपी माया - आज्ञापालन में सुख

तब श्रीजीमहाराज ने कहा, ‘परमेश्वर ने जबसे इस सृष्टि की रचना की है तबसे उन्होंने ऐसा यन्त्र लगाया है कि उन्हें (परमेश्वर को) फिरसे परिश्रम न करना पड़े तथा संसार की जो वृद्धि करनी है, वह अपने-आप होती रहे, ऐसा चक्र चला रखा है। इसलिए, पुरुष को स्त्री से और स्त्री को पुरुष से सहज प्रेम हो जाता है तथा स्त्री से उत्पन्न होनेवाली सन्तान से भी सहज स्नेह हो जाता है, वस्तुतः वह भगवान की स्नेहरूपी माया ही है। उस माया के प्रवाह में जो न बहे, उसकी वृत्ति ही भगवान के स्वरूप में रहती है। इसलिए, भगवान के भक्त को

मायिक पदार्थों में दोषबुद्धि रखकर वैराग्य को सिद्ध करना चाहिए और भगवान को सर्व आनन्दमय जानकर परमेश्वर में ही अपनी वृत्ति को बनाए रखना चाहिए। यदि वह मायिक पदार्थों में वैराग्य की भावना न रखे और भगवान के स्वरूप से बिछड़ जाए, तो वह शिव, ब्रह्मा तथा नारद आदि समर्थ मुक्त के समान होने पर भी मायिक पदार्थों की आसक्ति में लिप्त हो जाता है। अतः भगवान को छोड़कर मायिक पदार्थों का संग करना भक्त की आसक्ति बढ़ाना ही है। इसलिए परमेश्वर के भक्त को भगवान के सिवा अन्यत्र कहीं भी स्नेह नहीं रखना चाहिए।’

68. गढडा प्रथम - 38 : सत्संग का मूल्यांकन; आत्मनिरीक्षण

उस समय श्रीजीमहाराज इस प्रकार कहने लगे, ‘सुनिये ! बात करते हैं, जो सत्संगी हो, उसने जबसे सत्संग में आना शुरू किया, तबसे लेकर आज तक अपने मन की जाँच पड़ताल करनी चाहिए कि ‘प्रथम वर्ष में मेरा मन ‘ऐसा’ था और बाद में ‘ऐसा’ था तथा ‘इतनी’ भगवान की वासना थी और ‘इतनी’ जगत की वासना थी। इस प्रकार

वर्षानुवर्ष सत्संग में अपनी स्थिति का लेखा-जोखा करते रहना चाहिए और अपने मन में जगत की जितनी वासना शेष रह गयी हो, उसे थोड़ा-थोड़ा करके निरन्तर समाप्त करते रहना चाहिए। यदि वह इस प्रकार विचार नहीं करता है और वासनिक वृत्तियों को एकत्र करता रहता है, तो उसकी वह वासना कभी नहीं मिटेगी। जैसे किसी बनिये के यहाँ कोई खाता खोला हो, उसका हिसाब यदि हर महीने नियमितरूप से चुका दिया जाए, तो उसका हिसाब चुकाने में कठिनाई नहीं पड़ती, किन्तु एक वर्ष का हिसाब इकट्ठा होने पर उसे चुकता करना बहुत कठिन हो जाता है, इस प्रकार निरन्तर विचार करते रहना चाहिए। और, मन तो जगत की वासनाओं से परिपूरित ही रहता है। जिस प्रकार तिल फूलों की सुगन्ध से सुगन्धित हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवान के चरित्र का महिमा सहित नित्य स्मरणरूपी फूलों से मन को सुगन्धित करना चाहिए। और, भगवान के चरित्र रूपी जाल में मन को जकड़कर रखना चाहिए और मन में भगवान सम्बंधी संकल्प करते रहना चाहिए। एक संकल्प के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा संकल्प करते रहना चाहिए। इस प्रकार, मन को निवृत्त नहीं रहने

देना चाहिए।' इतना कहने के बाद श्रीजीमहाराज ने भूत का दृष्टान्त विस्तृतरूप से सुनाया। फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस प्रकार भगवान के एक दिन के चरित्रों, वार्ता तथा दर्शन का स्मरण करने लगे, तो उनका ही पार नहीं पाया जा सकता, तब जिसके सत्संग-प्रवेश के दस-पन्द्रह वर्ष लग चुके हैं, तब उनकी स्मृतियों का पार ही कैसे लग सकता है? और, उन चरित्रों को इस प्रकार स्मरण करें कि 'इस गाँव में इस प्रकार महाराज तथा परमहंसों की सभा हुई थी, इस तरह महाराज की पूजा हुई थी तथा इस प्रकार वार्ता हुई थी।' इत्यादि जो भगवान के चरित्र हैं उनका बार-बार स्मरण करना चाहिए और जो अधिक न समझ पाता हो उसके लिए तो ऐसा करना ही श्रेष्ठ उपाय है, इसके समान दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

69. गढडा प्रथम - 48 : चार प्रकार के कुसंगी

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'भगवान के भक्त को प्रतिदिन भगवान की पूजा तथा स्तुति करके उनसे यह माँगना चाहिए कि 'हे महाराज! हे स्वामिन्! हे कृपासिन्धो! हे शरणागत-प्रतिपालक! कुसंगी से मेरी रक्षा

करना।' वे कुसंगी चार प्रकार के हैं - एक कुंडापन्थी (वाममार्गियों का एक विभाग), दूसरा शक्तिपन्थी, तीसरा शुष्कवेदान्ती तथा चौथा नास्तिक। उनमें से यदि कुंडापन्थी का संग हो जाए तो वह निष्काम धर्म (ब्रह्मचर्यव्रत तथा व्रतमान धर्म) से हटाकर उसे भ्रष्ट कर डालता है। यदि शक्तिपन्थी का संग हो जाए, तो वह शराब पिलाकर और माँस खिलाकर स्वधर्म से भ्रष्ट कर डालता है। यदि शुष्कवेदान्ती का संग हो जाए, तो वह भगवान के धाम तथा भगवान के शाश्वत दिव्य आकार और उनके अवतारों की मूर्तियों के आकारों, सबको मिथ्या बताकर भगवान की भक्ति-उपासना से भ्रष्ट करता है। यदि नास्तिक का संग हो जाए, तो वह कर्मों को ही सही बतलाकर परमेश्वर, जो श्रीकृष्ण भगवान हैं, उन्हें मिथ्या कर दिखाता है तथा अनादि सत्शास्त्रों द्वारा बताए गए मार्ग से भ्रष्ट कर डालता है। अतः भगवान से याचना करनी चाहिए कि 'ऐसे चार प्रकार के मनुष्यों का संग कभी भी न हो।' तथा, यह प्रार्थना भी करनी चाहिए कि 'हे महाराज! काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या और देहाभिमान आदि अन्तःशत्रुओं से रक्षा कीजिए

तथा नित्य अपने भक्तों के सत्संग का अवसर प्रदान कीजिए।' इस प्रकार, नित्य ही भगवान से प्रार्थना करनी चाहिए तथा इन कुसंगियों और अन्तःशत्रुओं से निरन्तर डरते रहना चाहिए।'

70. गडडा प्रथम - 56 : निर्मानी भक्त की महत्ता; इष्टदेव की निष्ठा

श्रीजीमहाराज ने कहा, 'कितने ही सिद्ध होते हैं, और कितने सर्वज्ञ होते हैं, तथा कुछ देवता होते हैं, इत्यादि अनन्त प्रकार की महत्ता को पाते हैं, तथा परमपद को प्राप्त करते हैं, वह सभी भगवान की उपासना के बल से प्राप्त करते हैं, परन्तु उपासना के बिना कोई भी साधना सिद्ध नहीं होती। इसीलिए, शास्त्रों में आत्मा एवं अनात्मा का विवरण समझकर अथवा किसी बड़े सन्त के मुख से बात सुनकर कोई यह मान ले कि 'मैं आत्मा एवं अनात्मा का विवेक प्राप्त कर लूँगा', किन्तु इस तरह यह बात उसे सिद्ध नहीं होती। वह तो उस जीव को अपने इष्टदेव परमेश्वर में जितनी निष्ठा रहती है, उतना ही आत्मा-अनात्मा का विवेक प्राप्त होता है, परन्तु इष्टदेव

के बल के बिना कोई भी साधना सिद्ध नहीं होती। फिर भी, जिसमें गोपियों जैसी प्रेमलक्षणा भक्ति है, उसकी समस्त साधनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं। और, जिसके हृदय में ऐसा प्रेम न हो, उसे तो भगवान की महिमा को समझना कि 'भगवान गोलोक, वैकुण्ठ, श्वेतद्वीप तथा ब्रह्मधाम के स्वामी हैं और वे भक्तों के सुख के लिए ही मनुष्य-जैसे दिखाई पड़ते हैं, परन्तु गोलोक आदि अपने धामों में अपनी मूर्ति के एक-एक अंश में कोटि-कोटि सूर्यों का प्रकाश द्योतित होता है। और, मर्त्यलोक में मनुष्य ऐसे भगवान की सेवा करते हैं, तब भले ही भक्त दीपक जलाए तभी भगवान के आगे प्रकाश होता हो, परन्तु, वे सूर्य-चन्द्रादि सबको प्रकाश के दाता हैं। और, गोलोकादि धामों में राधिका, लक्ष्मी आदि अपने भक्तों द्वारा की गई सेवा को वह भगवान निरन्तर ग्रहण करते हैं। और, जब ब्रह्मांडों का प्रलय होता है, तब ये प्रकट भगवान एकमात्र ही रहते हैं और उसके पश्चात् सृष्टि-रचना के समय में भी प्रकृति-पुरुष द्वारा अनन्तकोटि ब्रह्मांडों को ये ही भगवान उत्पन्न करते हैं।' इस प्रकार भगवान की महिमा का विचार करना, यही आत्मा एवं अनात्मा के विवेक

का कारण है। और, जितनी उस भक्त को भगवान की माहात्म्यसहित निष्ठा है, उतना ही उस भक्त के हृदय में वैराग्य उत्पन्न होता है। अतः अन्य साधनों के बल का परित्याग करके एकमात्र भगवान की उपासना का बल ही रखना चाहिए।

71. गढडा प्रथम - 58 : देह, कुसंग और पूर्व संस्कार

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भक्त महापुरुष का गुण जैसे-जैसे ग्रहण करता जाता है, वैसे-वैसे उसकी भक्ति में वृद्धि होती जाती है। और, अति महान संत को अत्यन्त निष्कामी समझ लें, तो स्वयं भले ही कुत्ता जैसा कामी हो, फिर भी वह निष्कामी बन जाता है, और यदि महापुरुष में कामुकता का दोष सोचनेवाला मनुष्य चाहे जितना भी निष्कामी हो, फिर भी वह घोर कामी हो जाता है। और, महान संत में क्रोध एवं लोभवृत्ति की कल्पना करनेवाला स्वयं क्रोधी और लोभी हो जाता है। और, यदि महान संत को अतिशय निष्कामी, निर्लोभी, निःस्वादी, निर्मानी और निःस्नेही समझे, तो वह भी इन

समस्त विकारों से मुक्त हो जाता है, और दृढ़ हरिभक्त बन जाता है। ऐसे दृढ़ हरिभक्त की क्या पहचान है? तो जिसे अच्छे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पाँच विषयों के प्रति उसी प्रकार अरुचि हो, जैसे कोई दुःखदायी चीज़ के प्रति अरुचि रहती है, और एकमात्र परमेश्वर के स्वरूप में ही जिसकी अचल निष्ठा रहती हो, उसी को दृढ़ हरिभक्त जानना। ऐसा दृढ़ हरिभक्त होने का केवल यही उपाय है कि परमेश्वर के दास का गुलाम होकर रहे, और यह समझे कि 'ये समस्त भक्त बड़े हैं और मैं सबसे न्यून हूँ।' ऐसा जानकर वह हरिभक्त का दासानुदास होकर रहे। और, जो पुरुष इस प्रकार रहता है, उसके समस्त विकारों का विनाश हो जाता है और दिन-प्रतिदिन उसके ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि शुभ गुण बढ़ते रहते हैं।'

72. गढडा प्रथम - 59 : असाधारण स्नेह

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'सबसे पहले तो भगवान के प्रति ऐसा विश्वास हो कि 'यह जो मुझे मिले हैं, वे निश्चित रूप से भगवान हैं।' इसके साथ ही उसे

आस्तिकता हो; एवं वह भगवान के ऐश्वर्य को जानता हो कि 'ये भगवान ब्रह्मधाम, गोलोक तथा श्वेतद्वीप आदि समस्त धामों के स्वामी और अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के अधिष्ठाता और सबके कर्ता हैं। और, पुरुष, काल, कर्म, माया, तीन गुणों, चौबीस तत्त्वों तथा ब्रह्मादिक देवों में से किसी को भी इस ब्रह्मांड का कर्ता नहीं मानता हो, परन्तु एकमात्र भगवान पुरुषोत्तम को ही इन सभी के कर्ता और सबका अन्तर्यामी समझता हो। इस प्रकार की समझ के साथ जिसका प्रत्यक्ष भगवान के स्वरूप में दृढ़ निश्चय हो, वही परमेश्वर में असाधारण स्नेह होने का उपाय है।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'भगवान की ऐसी महिमा जानने पर भी यदि असाधारण स्नेह नहीं होता, तो उसका क्या कारण है?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि वह भगवान की ऐसी महिमा जानता है, तो भगवान से उसका असाधारण स्नेह है ही! किन्तु उसे अपने स्नेह के विषय में जानकारी नहीं है। जैसे हनुमानजी में अपार बल था, परन्तु किसी के बताए बिना उसकी प्रतीति नहीं हुई।' जैसे प्रलम्बासुर, बलदेवजी

को उठाकर ले जाने लगा तब बलदेवजी में अपार बल था, किन्तु वे स्वयं नहीं जानते नहीं थे। फिर जब आकाशवाणी से सूचित किया गया, तब उन्हें अपने बल के विषय में मालूम हो गया।' उसी प्रकार उस भक्त को भगवान से असाधारण प्रीति तो है, परन्तु (किसी भक्त के द्वारा अवगत कराये बिना) उसे मालूम नहीं होता।'

73. गढडा प्रथम - 60 : वासना को मिटाने की साधना

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा, 'समस्त साधनाओं की अपेक्षा वासना को मिटाना, यह सबसे बड़ी साधना है। उस वासना को मिटाने का उपाय यह है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पाँच विषयों में जितनी अपनी तृष्णा है, उस पर विचार करना चाहिए कि मुझे भगवान में जितनी वासना है, उतनी ही क्या जगत में भी है अथवा उससे न्यून या अधिक है? उसकी परीक्षा करनी चाहिए। जैसे कि भगवान की बातें सुनने में श्रोत्रेन्द्रिय जितनी लुब्ध होती है, उतनी ही यदि जगत की बातें सुनने में आकृष्ट होती हो, तो यह समझना चाहिए

कि भगवान तथा जगत में समान वासना है। इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस और गंध इत्यादि विषयों से होनेवाली अपनी स्थिति का पता लगाना चाहिए। इस प्रकार जब पता लगाते-लगाते जगत की वासना को कम करता रहता है, तथा भगवान सम्बन्धी वासना को बढ़ाता जाता है, तब परिणामस्वरूप पंचविषयों में उसकी समबुद्धि हो जाती है। और, समबुद्धि होने के पश्चात् उसे निन्दा एवं स्तुति समान लगती है तथा अच्छा स्पर्श और बुरा स्पर्श एक समान प्रतीत होता है। उसी तरह अच्छा रूप और बुरा रूप, तथा बालिका, युवती एवं वृद्धा स्त्रियाँ तथा कचरा और कांचन - यह सब समान प्रतीत होता है। ठीक उसी तरह अच्छा और बुरा स्वाद और गन्ध भी समान प्रतीत होने लगते हैं। इस तरह जब स्वाभाविक रूप से वर्तन हो, तब समझना चाहिए, कि वासना को जीत चुके हैं। और, वासना-रहित वर्तन हो, वही एकान्तिक का धर्म है। यदि अल्प वासना भी रह गई, तो समाधि की स्थिति होने पर भी वासना उसे समाधि में से वापस जगत की ओर खींच लाती है। इसलिए, वासना मिटानेवाले को ही एकान्तिक भक्त कहा जाता है।'

74. गढडा प्रथम - 61 : राजा बलि की अनन्य भक्ति

तब श्रीजीमहाराज ने उत्तर दिया, 'ये सिद्धियाँ तो भगवान के परिपक्व निश्चयवालों के समक्ष ही उपस्थित होती हैं। अन्य के लिए ये सिद्धियाँ बहुत ही दुर्लभ हैं। और, भगवान भी भक्त की परीक्षा लेने के लिए इन सिद्धियों को प्रेरित करते हैं, कि 'उस भक्त को मुझसे अधिक स्नेह है, या सिद्धियों से अधिक लगाव है?' इस प्रकार भगवान अपने भक्त की परीक्षा लेते हैं। यदि वह दृढ़ भक्त है तथा भगवान के सिवा किसी भी अन्य वस्तु की इच्छा नहीं करता, तो भगवान ऐसे निर्वासनिक एकान्तिक भक्त के वश में हो जाते हैं। जैसे वामनजी ने राजा बलि का त्रिलोक का राज्य ले लिया, तथा चौदह लोकों को अपने दो चरणों से नाप लिया और तीसरे कदम के लिए राजा बलि ने अपना पूरा शरीर समर्पित कर दिया। इस प्रकार यद्यपि उसने भगवान को श्रद्धासहित अपना सर्वस्व दे दिया, फिर भी भगवान ने बिना अपराध के उसे बाँधा लेकिन वह भक्ति

से विचलित नहीं हुआ। अपने प्रति उसकी ऐसी अनन्य भक्ति देखकर स्वयं भगवान भी उसके वश में हो गए। भगवान ने तो राजा बलि को क्षणमात्र के लिए बाँधा था, किन्तु वे (भगवान) उसकी भक्तिरूपी डोर से बँध चुके हैं। आज तक भगवान बलि के दरवाजे पर निरन्तर खड़े हैं, और वे राजा बलि की दृष्टि से पलमात्र के लिए भी दूर नहीं होते। इस प्रकार, हमें भी समस्त वासनाओं को मिटाकर सर्वस्व भगवान को अर्पित करके भगवान का दास होकर रहना चाहिए। ऐसा करने पर भी भगवान हमें अधिक दुःख देंगे, तो भी वे स्वयं हमारे वश में हो जाएँगे! क्योंकि वे भक्तवत्सल तथा कृपासिन्धु हैं। वे जिसकी अपनी ओर दृढ़ भक्ति देखते हैं, उसके अधीन स्वयमेव हो जाते हैं। फिर ऐसे प्रेमी भक्त की मन-रूपी डोरी के बंधनों में बंध जाते हैं, फिर उस प्रेमबंधन से छूटने में समर्थ नहीं हो पाते। अतः भगवान ज्यों-ज्यों हमारी कसौटी करें, हमें त्यों-त्यों अधिक प्रसन्न होना चाहिए कि 'भगवान जैसे-जैसे मुझे अधिक दुःख देंगे, वैसे-वैसे वे अधिकाधिक मेरे वश में होते जाएँगे और पलमात्र भी मुझसे अलग नहीं रहेंगे।' ऐसा समझकर

भगवान ज्यों-ज्यों अधिक कसौटी करते जाएँ, त्यों-त्यों हमें भी अधिक से अधिक प्रसन्न रहना चाहिए। परन्तु किसी भी तरह के दुःख को देखकर, अथवा शारीरिक सुख सुविधा के लिए कायर की भांति पीछे नहीं हटना चाहिए।’

75. गढडा प्रथम - 63 : भगवान का तत्त्वतः निश्चय

उस समय नृसिंहानन्द स्वामी ने पूछा कि ‘भगवान सम्बन्धी निश्चय होने में जिसे किसी प्रकार की त्रुटि हो, उसके मन में कैसे संकल्प होते हैं?’ तब श्रीजीमहाराज बोले कि ‘जिसे भगवान के निश्चय में कोई त्रुटि हो, उसे जब कभी भगवान में कुछ सामर्थ्य दिखाई देता है, तब उसे बहुत ही आनन्द होता है, परन्तु जब सामर्थ्य नहीं दिखाई देता, तब उसका अन्तःकरण निस्तेज हो जाता है। उसके हृदय में कुछ अनुचित संकल्प होते हों, और वे टालने पर भी नहीं टलते हों, तब वह भगवान को ही दोषी ठहराने लगता है कि ‘मैं इतने दिनों से सत्संग कर-करके मर गया फिर भी भगवान मेरे बुरे संकल्पों

को टालते नहीं हैं।’ इस प्रकार वह भगवान पर दोष मढ़ता है, और जिन पदार्थों में उसकी आसक्ति रहती हो तथा उसका मन हटाने पर भी उस पदार्थ से न हटता हो, तब वैसा का वैसा दोष वह भगवान में भी देखता है कि ‘मुझमें जिस प्रकार कामादिक दोष हैं, वैसे ही वही दोष भगवान में भी हैं। परन्तु वे भगवान हैं, अतः महान कहलाते हैं।’ इस प्रकार के संकल्प जिसके मन में रहते हों, उसके निश्चय में त्रुटि है, इसलिए उसका निश्चय परिपक्व नहीं है।’

फिर परमचैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा, ‘हे महाराज! जिसे भगवान का परिपक्व निश्चय होता है, उसे किस प्रकार के संकल्प होते हैं?’ तब श्रीजीमहाराज बोले कि ‘जिसे परिपक्व निश्चय होता है, उसके मन में ऐसी भावना रहती है कि ‘मुझे सब कुछ प्राप्त हो चुका है, और जहाँ प्रत्यक्ष भगवान हैं, वहीं परमधाम है, तथा ये सभी सन्त नारद-सनकादिक के समान हैं और ये सभी सत्संगी उद्धव, अक्रूर, विदुर, सुदामा और वृन्दावन के ग्वालों के समान हैं। जो स्त्री-हरिभक्त हैं, वे गोपियाँ, द्रौपदी, कुन्ती, सीता, रुक्मिणी, लक्ष्मी और पार्वती के

समान हैं और मैं अब पूर्णकाम हो गया हूँ, मुझे अब कुछ करना शेष नहीं रहा। मैं गोलोक, वैकुण्ठ, ब्रह्मपुर को प्राप्त हो चुका हूँ।' जिसके ऐसे संकल्प होते हों और हृदय में अति आनन्द समाया रहता हो, इस प्रकार जिसके अन्तर में प्रतीत हो रहा हो, उसके निश्चय को परिपक्व समझना चाहिए।'

76. गढडा प्रथम - 68 : आठ प्रकार की मूर्ति तथा सन्त में प्राकट्य

श्रीजीमहाराज बोले, 'उनहत्तर के (सं. 1869) के दुर्भिक्ष के समय हमें एक महीने तक योगनिद्रा लगती थी, तब ऐसा आभास होता था कि हम पुरुषोत्तमपुरी में जाकर श्रीजगन्नाथजी की मूर्ति में प्रवेश करके रह रहे हैं। यद्यपि वह काष्ठ की मूर्ति थी, फिर भी हम उनके नेत्रों से सबको देखते थे, तथा पुजारी के भक्तिभाव और छलकपट को भी देखते थे। आज हमारे सत्संग में भी जो समाधिनिष्ठ होते हैं, वे भी इस प्रकार समाधि द्वारा दूसरों के शरीर में प्रवेश करके सबको देखते हैं तथा समस्त शब्दों को सुनते हैं। और, शास्त्रों में भी ऐसे वचन हैं कि

शुकदेवजी वृक्ष में प्रवेश करके बोले थे।' इसलिए, महान सत्पुरुष अथवा परमेश्वर अपनी इच्छा के अनुसार कहीं भी प्रवेश करने का सामर्थ्य रखते हैं। अतः परमेश्वर ने आज्ञा करके जो मूर्ति पूजन करने के लिए दी हो, वे मूर्तियाँ आठ प्रकार की होती हैं। उनमें स्वयं भगवान साक्षात् प्रवेश करके विराजमान रहते हैं। जब भगवान का भक्त उस मूर्ति की पूजा करता हो, तब उसे मूर्ति की उसी प्रकार मर्यादा रखनी चाहिए, जिस तरह प्रत्यक्षरूप से विराजमान भगवान की मर्यादा का पालन करता हो! उसी प्रकार सन्त के हृदय में भी भगवान की मूर्ति है, अतः उन सन्त की भी मर्यादा रखनी चाहिए। किन्तु, ऐसी मर्यादा का वह भक्त लेशमात्र पालन नहीं करता है, उल्टे उस मूर्ति को वह चित्र अथवा पाषाणादिक की समझता है, तथा सन्त को अन्य व्यक्तियों के समान मानता है। और, भगवान ने तो अपने श्रीमुख से ऐसा कहा है कि मैं अपनी आठ प्रकार की प्रतिमा तथा सन्त में निरन्तर प्रवेश करके रहता हूँ।' फिर भी वह भक्त तो भगवान की प्रतिमा के समक्ष तथा सन्त के समक्ष मनचाहा स्वच्छंद और अविवेकपूर्ण आचरण करता है, परन्तु भगवान का

भय लेशमात्र भी नहीं रखता है, उसे भगवान का निश्चय है या नहीं? यह प्रश्न है।' तब परमहंस बोले कि 'जब वह भगवान को अन्तर्यामी जानकर भी मर्यादा नहीं रखता, तो यही प्रतीत होता है कि उसमें भगवान का निश्चय ही नहीं है।'

77. गढडा प्रथम - 71 : भगवान अक्षरधाम सहित पृथ्वी पर बिराजमान हैं

इस आदेश पर सोमलाखाचर ने प्रश्न किया कि 'भगवान यद्यपि अपने भक्तों के समस्त अपराधों को क्षमा कर देते हैं, तथापि ऐसा कौन-सा अपराध है, जिसे भगवान क्षमा नहीं करते?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि, 'भगवान अन्य सभी अपराधों को क्षमा कर देते हैं, किन्तु वे भगवद्भक्त के द्रोहरूप अपराध को क्षमा नहीं करते, इसलिए भगवान के भक्त का किसी भी प्रकार से द्रोह नहीं करना चाहिए। और, भगवान के समस्त अपराधों में सबसे बड़ा अपराध वही है, जो भगवान के साकार स्वरूप का खंडन करना। अतः वह अपराध कभी भी नहीं करना। यदि कोई व्यक्ति वह अपराध करता है,

तो उसे पाँच महा-पापों से भी अधिक पाप लगता है। वस्तुतः भगवान सदैव साकार मूर्तिमान हैं, उन्हें निराकार समझना ही भगवान के आकार का खंडन करना कहलाता है। तथा, पुरुषोत्तम भगवान करोड़ों सूर्य-चन्द्रमाओं के तेज के समान देदीप्यमान रहनेवाले अपने अक्षरधाम में सदैव दिव्यरूप धारण करके विराजमान रहते हैं। और, अनन्तकोटि ब्रह्मरूप ऐसे मुक्त उनके चरणकमलों की सेवा किया करते हैं। ऐसे परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान ही स्वयमेव कृपा करके जीवों के कल्याण के लिए पृथ्वी पर प्रकट होते हैं। तब वे जिन-जिन तत्त्वों को अंगीकार करते हैं, वे सभी तत्त्व ब्रह्मरूप (दिव्य) हो जाते हैं। क्योंकि रामकृष्णादि अवतारों के स्वरूपों में स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण इन तीन देह तथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के भाव दिखाई देते हैं, तथा दस इन्द्रियाँ, पंचप्राण इत्यादि भी मनुष्य के समान ही दिखाई देते हैं। परन्तु ये सब ब्रह्म (दिव्य) हैं, मायिक नहीं। इसलिए ऐसे भगवान के आकार का कभी भी खंडन नहीं करना।'

78. गढडा प्रथम - 72 : माहात्म्ययुक्त निश्चय

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस भगवद्भक्त को भगवान का माहात्म्यसहित निश्चय हो, तथा वह सन्त एवं सत्संगी का माहात्म्य बहुत अच्छी तरह जानता हो, उस भक्त का कर्म एवं काल यदि कठिन हो, फिर भी उस भक्त के भीतर भक्ति का अतिशय बल होने से काल तथा कर्म एकसाथ मिलकर भी उसका अहित नहीं कर सकते। जिसको भगवान और उनके सन्त के प्रति निष्ठा में कुछ न्यूनता होगी, तो भगवान स्वयं भी उसका भला चाहे, तब भी उसका भला नहीं होगा। और, जो गरीबों को सताता है, उसका तो कभी भी भला नहीं हो पाता। जैसे कि महाभारत में भीष्म पितामह ने राजा युधिष्ठिर से ऐसा कहा है कि यदि तुम गरीबों को सताओगे तो तुम अपने वंश के साथ जलकर भस्म हो जाओगे। इसलिए भगवान के भक्त अथवा अन्य किसी भी गरीब को, लेशमात्र भी दुःख नहीं देना। क्योंकि

गरीब को त्रास देनेवाले का भला कभी भी नहीं होगा। यदि गरीब को दुःख दिया, तो उसे ब्रह्महत्या के समान पाप लगता है। इसी प्रकार, किसी के सिर पर मिथ्या कलंक लगाना भी ब्रह्महत्या के समान ही पाप है। यदि कोई वास्तविक रूप से कलंकित हो, तो भी उस व्यक्ति को एकान्त में बुलाकर उसका भला हो, ऐसी हितकारी बात कहना, किन्तु उसकी फज़ीहत नहीं करना। और, जो पुरुष पाँच प्रकार की स्त्रियों का धर्म भंग करता है, तो उसे भी ब्रह्महत्या जैसा पाप लगता है। पाँच प्रकार की स्त्रियों में प्रथम वह है, जो शरण में आई हो, दूसरी अपनी स्त्री हो, जो व्रत-उपवास के दिन पति-संग नहीं करना चाहती हो, तीसरी, पतिव्रता स्त्री, चौथी विधवा स्त्री, और पाँचवीं, विश्वासी स्त्री। यदि ऐसी स्त्रियों के साथ व्यभिचार किया गया, तो अपराध करनेवाले पुरुष पर ब्रह्महत्या का पाप लगता है। उनमें भी विधवा स्त्री का मन यदि कुमार्गगामी हो गया, तो उसे समझाकर भी धर्माचरण की ओर मोड़ देना।'

79. गढडा प्रथम - 72 : माहात्म्ययुक्त निश्चय

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जो भक्त स्वयं को देह से भिन्न रहनेवाली आत्मा का रूप मानता है तथा जड़ता, दुःख, मिथ्यापन और अपवित्रता आदि इस देह के गुणों को आत्मा के गुण नहीं मानता, और अछेद्य, अभेद्य एवं अविनाशी आदि आत्मा के गुणों को देह में नहीं मानता; और, अपने शरीर में रहनेवाली जीवात्मा को देखता है, उस आत्मा में स्थित परमात्मा को भी देखता है, तथा दूसरे लोगों की देहों में रहनेवाली आत्मा को भी देखता है, ऐसा सामर्थ्य रखने पर भी वह केवल आत्मदर्शन से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण भगवान तथा उनके सन्त को समझता है। स्वयं को आत्मदर्शन हुआ है, उसका लेशमात्र भी अभिमान नहीं करता, ऐसे जिसके लक्षण हों, उसी को उत्तम भक्त कहते हैं। अब, भगवान का निश्चय तथा आत्मनिष्ठा दोनों होने पर भी जिसे भगवद्भक्त पर ईर्ष्या बनी रहती हो, एवं यदि भगवान उसका अपमान कर दें, तो भगवान के प्रति भी ईर्ष्या

उत्पन्न हो कि 'वे बड़े होकर भी, बिना दोष के ही ऐसा व्यवहार क्यों करते होंगे?' ऐसे लक्षण वाले को मध्यम कोटि का भक्त समझना। तथा, भगवान का निश्चय तो हो, परन्तु आत्मनिष्ठा न हो, तथा भगवान से तो प्रीति हो, किन्तु इसके साथ-साथ सांसारिक व्यवहार के कारण भी उसे हर्ष एवं शोक प्रभावित करते हों, तो उसे कनिष्ठ भक्त समझना।'

80. गढडा प्रथम - 74 : भगवान की इच्छा ही सर्वोपरि

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जिसे जितना वैराग्य होता है तथा जिसकी जितनी समझ होती है, उसका पता तब चलता है, जब किसी विषयभोग की प्राप्ति हो अथवा संकटकाल की स्थिति उपस्थित हो! इन दोनों के बिना व्यक्ति की कैसी समझ है, वह मालूम नहीं होता। यदि उसे अधिक सम्पत्ति अथवा भीषण विपत्ति आ जाए, तब तो बात ही क्या करनी! परन्तु इन दादाखाचर पर जब थोड़ा-सा संकटकाल घिर आया था, तब जिसका जैसा

अन्तःकरण रहा होगा, वैसा सबको विदित हुआ होगा।’

यह सुनकर मुक्तानंद स्वामी ने कहा कि ‘भगवान के भक्त के प्रति हृदय में स्नेह और सहानुभूति तथा उसका पक्ष हमें रहता तो है, किन्तु वह भी इस विचार से रहता है कि यदि सत्संग की उन्नति होती है, तो बहुत लोगों को सद्भाव होता है; किन्तु यदि सत्संग की प्रगति में कुछ रुकावट हुई, तो लोगों को सद्भाव नहीं होगा। इसी विचार से हमें हर्ष या विषाद के भाव प्रभावित करते हैं।’ तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि ‘हम तो श्रीकृष्ण नारायण के दास हैं, उनकी पसंद में ही हमें प्रसन्न रहना चाहिए। यदि श्रीकृष्ण भगवान की इच्छा होगी तो सत्संग की वृद्धि होगी और यदि उनकी घटाने की इच्छा होगी, तो वह घट जाएगा। और, वे भगवान हमें कदाचित् हाथी पर बैठायें, तो हमें हाथी पर बैठकर प्रसन्न रहना है; यदि वे हमें गधे पर बैठायें तो उस पर बैठकर भी खुश रहना है। लेकिन उन भगवान के चरणारविन्दों के सिवा अन्यत्र कहीं भी प्रीति नहीं रखनी है। और, भगवान की इच्छा के अनुसार जैसे-

जैसे सत्संग की वृद्धि होती रहे, उस तरह प्रसन्न रहना चाहिए। फिर चाहे भगवान की इच्छा से पूरा संसार सत्संगी बन जाए, अथवा उनकी इच्छा के अनुसार समूचा सत्संग समाप्त हो जाए, फिर भी मन में किसी प्रकार का हर्ष या शोक नहीं रखना चाहिए। भगवान का किया ही सब कुछ होता है। अतः जिस प्रकार सूखा पत्ता वायु के झोंके से संचारित रहता है, उसी प्रकार भगवान के अधीन रहकर आनन्द के साथ परमेश्वर का भजन करते रहना, और मन में किसी भी तरह का उद्वेग नहीं आने देना चाहिए।’

81. गढडा प्रथम - 75 : भक्त के सम्बंध से कल्याण

तब श्रीजीमहाराज बोले, ‘जैसे देवहूति ने कर्दम ऋषि के साथ पतिरूप में भाव रखते हुए संग किया था, तो भी कर्दम ऋषि में स्नेह रहने के कारण उसका उद्धार हो गया तथा सौभरि ऋषि का सुन्दर रूप देखकर ही उनके साथ मान्धाता राजा की पचास पुत्रियों ने विवाह किया। उन्हें

सौभरि में कामभाव से स्नेह था, तो भी ऋषि के समान उन सबका कल्याण हुआ। उसी प्रकार जिसके कुल में भक्त उत्पन्न होता है, उसके समस्त कुटुम्बीजन ऐसा समझते हैं कि 'हमारा यह बड़ा भाग्य है कि हमारे कुल में भगवान का भक्त हुआ है।' इस प्रकार भक्त का माहात्म्य समझकर स्नेह रखेगा, तो उन सभी कुटुम्बीजनों का कल्याण हो जाएगा। और, जो पितृ आदि मरकर स्वर्ग में गए हों और वे भी यदि ऐसा समझें कि 'हमारे कुल में भगवान का भक्त हुआ है, यह हमारा बड़ा भाग्य है,' ऐसा समझकर वे भगवान के भक्त से स्नेह रखें, तो उन पितरों का भी कल्याण हो जाता है। किन्तु, भगवान के भक्त के साथ जो वैरभाव रखता है, उसका कल्याण नहीं होता। वह ज्यों-ज्यों भगवान के भक्त के साथ वैर करता रहता है, त्यों-त्यों उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। तथा जब वह शरीर छोड़ता है, तब वह उसी नरककुंड को प्राप्त होता है, जहाँ पंचमहापाप करनेवाले पड़े रहते हैं। इसलिए, भगवान के भक्त से स्नेह रखनेवालों का कल्याण ही होता है, भले ही वे सम्बंधी हों या अन्य जन, सभी का कल्याण होता है।'

82. गढडा प्रथम - 78 : देशकाल आदि की प्रधानता

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'अपना कोई बूरा स्वभाव हो, उसे देखकर भगवान एवं भगवान के संत अप्रसन्न रहते हों, तब उस स्वभाव के साथ शत्रुभाव रखना चाहिए। जब ऐसा वैरभाव हो, तब जिसका, जिसके साथ वैर होता है, उसकी जानकारी समस्त जगत को हो जाती है, अतः सन्त को भी मालूम हो जाता है कि इसको अपने स्वभावों से वैर हो गया है। सन्त तो स्वभावों के वैरी होते ही हैं; अतः वे अपने मुमुक्षु के पक्ष में शामिल होकर उस पर दया करते हैं और ऐसा उपाय बताते हैं, जिससे उन स्वभावों पर विजय हो। अतएव, जिस स्वभाव के कारण अपनी फ़जीहत हुई हो, उस स्वभाव के साथ दृढ़तापूर्वक वैर बांधकर, जब तक उसका मूलोच्छेद हो, तब तक उपाय करना चाहिए। ऐसा करने पर भगवान और उनके सन्त पूर्ण दया करते हैं। और जब हरि की तथा उनके भक्त की जिस पर दया होती है, उसके हृदय में अतिशय सुख बना रहता

है और कल्याण के मार्ग पर चलने का सामर्थ्य भी बढ़ जाता है, और अपने काम, क्रोध, लोभादिक शत्रुओं की शक्ति क्षीण हो जाती है। अतः जिसके हृदय में जो शत्रु अत्यधिक पीड़ा पहुँचाता हो, उसके साथ पूर्ण रूप से शत्रुता रखी जाए, तो परमेश्वर उसकी सहायता करते हैं। इसलिए, अपने कामादिक शत्रुओं के साथ अवश्य ही वैरभाव रखना चाहिए। और, अपने आन्तरिक शत्रुओं के साथ वैर करने में अत्यधिक लाभ होता है।’

42. सारंगपुर - 1 : मन को जीतने का उपाय

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ‘विषयासक्ति की निवृत्ति का एक कारण आत्मनिष्ठा है तथा दूसरा कारण माहात्म्यसहित भगवान् सम्बन्धी ज्ञान है। उसमें आत्मनिष्ठा की समझ ऐसी है कि ‘मैं चैतन्य हूँ, देह जड है, मैं शुद्ध हूँ, देह नरकरूप है, मैं अविनाशी हूँ, देह नाशवान् है तथा मैं आनन्दरूप हूँ और देह दुःखरूप है।’ इस तरह जब अपनी आत्मा को समस्त प्रकार से देह से अतिशय विलक्षण समझता है, तब वह देह को अपना रूप मानकर विषयों से प्रीति करता ही नहीं।

इस प्रकार, आत्मज्ञान द्वारा विषयों की निवृत्ति हो जाती है। और, भगवान की महिमा को इस प्रकार समझे कि 'मैं आत्मा हूँ और मुझे जो प्रत्यक्ष भगवान मिले हैं, वे परमात्मा हैं। और, गोलोक, वैकुण्ठ, श्वेतद्वीप, ब्रह्मपुर तथा अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के अधिपति जो ब्रह्मादि देव हैं, उन सबके स्वामी, जो श्रीपुरुषोत्तम भगवान हैं, वह मुझे प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हुए हैं। और, वे मेरी आत्मा में भी निरन्तर विराजमान हैं। और, ऐसे भगवान का जो एक निमेषमात्र का दर्शन हो, उस पर अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के सभी विषयसुखों को न्योच्छावर कर दें, फिर भगवान के एक रोम में जितना आनन्द समाया है, उतना आनन्द अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के विषयसुखों को इकट्ठा करने पर भी उनके कोटि के एक भाग के बराबर भी नहीं होता। और, भगवान के अक्षरधाम की तुलना में अन्य देवताओं के लोकों को 'मोक्षधर्म' में नरकतुल्य बताया गया है। ऐसे भगवान मुझे प्रकट रूप से मिले हैं, तब उन्हें छोड़कर नरककुंड जैसे विषयसुखों की इच्छा मैं क्यों करूँ? क्योंकि विषयसुख केवल दुःखरूप ही है। इस प्रकार भगवान के माहात्म्य को जानने से विषयासक्ति

की निवृत्ति होती है। ऐसा जो आत्मज्ञान एवं परमात्मा का ज्ञान है, उसके द्वारा जो वैराग्य प्रकट होता है, उस वैराग्य से समस्त विषयसुखों की वासना निवृत्त हो जाती है।

84. सारंगपुर - 2 : भगवान की मूर्ति में स्नेह

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज विस्तारपूर्वक बताने लगे कि 'वचन द्वारा किसी भी जीव-प्राणिमात्र को दुःखी मत करना। और, परमेश्वर एवं महान सन्त के साथ यदि प्रश्नोत्तरी कर रहे हो, फिर उसमें स्वयं को अपनी जीत की प्रतीति होने लगे, फिर भी बड़ों के पास अपनी हार स्वीकार लेना, परन्तु अपने से बड़े सन्त को सभा में प्रश्नोत्तर के समय लज्जित होना पड़े, ऐसा कभी न करें, महान सन्त और परमेश्वर के सामने स्वयं पराजित होकर ही प्रसन्न रहना चाहिए। और, परमेश्वर और महान सन्त यदि अपने प्रति कोई उचित अथवा अनुचित वचन कहें तो उसे स्नेहपूर्वक तत्काल मान लें। उन वचनों में यदि उचित वचन (आज्ञा) हो, तो उसमें कोई शंका नहीं होती, परन्तु यदि उन्होंने कोई अनुचित वचन कहा हो, और उसमें कुछ संदेह होता हो, तो भी उस समय उसको

शिरोधार्य कर लेना; और परमेश्वर या बड़े सन्त के समक्ष अपनी सहमति प्रकट करके कहना कि 'हे महाराज! आप जैसा कहेंगे, वैसा ही मैं करूँगा।' यदि वह वचन मन में स्वीकार्य न हो, फिर भी परमेश्वर और बड़े सन्त की मर्जी हो, तो उनके समक्ष हाथ जोड़कर भक्तिपूर्ण यही निवेदन करना कि 'हे महाराज! आपने जो वचन कहा है, वह तो ठीक है, परन्तु उसमें मुझे इतना संदेह होता है।' इस प्रकार दीनभाव से अपना मन्तव्य प्रकट करना। यदि परमेश्वर की मरजी न हो, तो उनके निकट रहनेवाले महान सन्त तथा हरिभक्त को इस बात से अवगत करा देना चाहिए कि 'परमेश्वर ने ऐसा वचन कहा है, वह मुझे अपने लिए स्वीकार्य नहीं लगता।' इसके पश्चात् बड़े सन्त इसका निराकरण करें या तो परमेश्वर को निवेदन करके इस बात का समाधान कराएँ। परन्तु परमेश्वर के वचन को मानने से कभी मना करना ही नहीं, चाहे वह उचित हो या अनुचित। इस प्रकार युक्ति द्वारा बड़ों के वचनों को धीरज से लौटाना, परन्तु उसे मानने से तत्काल अस्वीकार नहीं करना। इस प्रकार वचन से बर्ताव करना।

85. सारंगपुर - 5 : वासना निवृत्ति; अन्वय-व्यतिरेक

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसके हृदय में श्रद्धा हो तथा भगवान एवं भगवान के भक्तों में विश्वास हो तथा भगवान में प्रीति हो एवं परमेश्वर के स्वरूप का माहात्म्यज्ञान हो, ये चार गुण जिस भक्त में हों, उसकी वासना निवृत्त हो जाती है। उसमें भी यदि माहात्म्यज्ञान सुदृढ़ हो, तो श्रद्धा, विश्वास और प्रीति दुर्बल होने पर भी ये तीनों महाबलवान होते हैं। बिना माहात्म्य की भक्ति भले ही अधिक दिखाई पड़ती हो, परन्तु अन्त में उसका नाश हो जाता है। जैसे दस-बारह वर्ष की कोई कन्या हो और उसे क्षयरोग हो गया, तो वह युवती होने से पहले ही मर जाएगी। वैसे ही जिसकी भक्ति बिना माहात्म्य की हो, वह भी परिपक्व हुए बिना ही धीरे-धीरे नाश हो जाती है। और, जिसके हृदय में माहात्म्यसहित भगवान की भक्ति हो, और अन्य कल्याण-कारी गुण न भी हों, तो भी उसमें ये सभी गुण आ जाते हैं। यदि ऐसी माहात्म्यसहित भक्ति जिसके हृदय में नहीं है परंतु

शम-दमादिक कल्याण-कारी उत्तम गुण तो हैं, फिर भी वे नगण्य जैसे ही कहे जाएँगे। क्योंकि अंत में उन गुणों का भी नाश हो जाएगा। अतः केवल एक माहात्म्यसहित भक्ति ही हो, तो उसकी वासना भी निवृत्त हो जाती है और जो कल्याणकारी गुण हैं, वे सभी हृदय में आकर निवास करते हैं। इसीलिए माहात्म्यसहित भगवान की भक्ति ही वासना को मिटाने का अतिश्रेष्ठ एवं अविचल साधन है।’

86. सारंगपुर - 9 : युग के धर्म की प्रवृत्ति; स्वधर्मरूपी स्थान

तब श्रीजीमहाराज बोले, ‘युगधर्मों के प्रवर्तन का कारण (सत्त्वादिक) गुण है। जब शुद्ध सत्त्वगुण प्रवर्तमान हो, तब हृदय में सतयुग की प्रवृत्ति रहती है। जब सत्त्वगुण तथा रजोगुण दोनों प्रवर्तमान हो, तब त्रेतायुग की प्रवृत्ति होती है। जब रजोगुण और तमोगुण प्रवर्तमान हों, तब द्वापरयुग की प्रवृत्ति होती है। और, जब अकेला तमोगुण प्रवर्तमान हो, तब उसके हृदय में कलियुग की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार ‘गुणों’ द्वारा युगों की प्रवृत्ति

रहती है।’

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पुनः पूछा, ‘गुणों की प्रवृत्ति होती रहने का क्या कारण है?’ उत्तर के रूप में श्रीजीमहाराज ने कहा कि ‘गुणों की प्रवृत्ति होती रहने का कारण कर्म है। जैसे पूर्वकर्म होते हैं, वैसे ही गुणों की प्रवृत्ति होती रहती है। जिनका रजोगुणी तथा तमोगुणी स्वभाव हो, वे यदि एकाग्र होकर भगवान का ध्यान करने लगें तो भी वह नहीं हो पाता। इसलिए, ऐसे पुरुषों को तो आत्मनिष्ठा तथा भगवान की महिमा का बल रखना और यह समझना चाहिए कि ‘मैं तो आत्मा हूँ, इसलिए मुझमें मायाकृत उपाधि नहीं हो सकती, मैं तो गुणातीत हूँ।’ तथा भगवान की महिमा का विचार इस प्रकार करना चाहिए कि ‘अजामिल यद्यपि महापापी था, फिर भी उसने अपने पुत्र के योग से ‘नारायण’ ऐसा नाम-उच्चार किया, तो वह समस्त पापों से मुक्त हो गया और उसे परमपद की प्राप्ति हो गई। परन्तु मुझे तो भगवान प्रत्यक्ष रूप से मिले हैं और रात-दिन मैं उन भगवान का नाम-स्मरण किया करता हूँ, इसलिए मैं तो कृतार्थ हुआ हूँ।’ इस प्रकार की धारणा करके

आनन्दमग्न रहना चाहिए। लेकिन जिसमें तमोगुण एवं रजोगुण के भाव रहते हों, वह ध्यान-धारणा के लिए आग्रह न रखे। उसे तो जैसा हो सके, वैसा भजन-स्मरण करना चाहिए। और, देह से भगवान तथा सन्त की परिचर्या श्रद्धासहित करनी चाहिए, तथा अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए स्वयं को पूर्णकाम मानना चाहिए।’

87. सारंगपुर - 10 : आत्मदृष्टि - बाह्यदृष्टि

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ‘गोलोक, वैकुण्ठ, श्वेतद्वीप तथा ब्रह्मपुर आदि जो भगवान के धाम हैं, उन्हें यदि बाह्यदृष्टि से देखा जाए, तो वे बहुत दूर हैं, किन्तु उन्हें आत्मदृष्टि से देखें, तो वे अणु-जितनी भी दूरी पर नहीं हैं। अतः बाह्यदृष्टिवालों की समझ मिथ्या है और आत्मदृष्टिवालों की समझ सत्य है। और, जो साधु इस प्रकार समझता है कि ‘मेरे चैतन्य में भगवान सदैव विराजमान रहते हैं। जैसे देह में जीव रहता है, वैसे मेरी आत्मा में भगवान रहते हैं, और मेरा जीव तो शरीर है तथा भगवान मेरे जीव के शरीरी हैं।’ और, जो सन्त

अपनी जीवात्मा को स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीन शरीरों से पृथक् मानता हो और उसमें भगवान अखंड रूप से विराजमान हैं, ऐसी समझ रखता हो, तो ऐसे सन्त के लिए भगवान अथवा उनका धाम अणुमात्र भी दूर नहीं हैं। और, ऐसा जो संत है, वह श्वेतद्वीप के मुक्त के समान है। ऐसे सन्त का दर्शन हुआ तो यह समझ लेना कि 'मुझे साक्षात् भगवान का दर्शन हुआ है।' ऐसा समझवाला जो सन्त है, वह तो कृतार्थ हो चुका है। और, यदि जिसको ऐसी समझ आ न सके, तो जिसे समझ प्राप्त हुई है, ऐसे सन्त की संगत में अपना जीवन न्योच्छावर करे, और वह सन्त यदि उसे नित्य पाँचबार जूतियों से प्रताड़ित करें, तो भी वह इस अपमान को सहन करता हुआ सन्त के संग को छोड़ न सके, जैसे अफ्रीम का व्यसनी अफ्रीम को नहीं छोड़ सकता, वैसे ही वह भी किसी भी तरह से सन्त का सत्संग नहीं छोड़ सकता ऐसी समझवाले को पूर्वोक्त सन्त के समान ही मानना। और, जैसी प्राप्ति उन महान सन्त को होती है, वैसी ही प्राप्ति इस (शरणागत) को होती है, जो सन्त-समागम में पड़ा रहता है।'

88. कारियाणी - 9 : भक्तों से मलिन रीस

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जिसके हृदय में भगवान की भक्ति हो एवं जो भगवान की महिमा जानता हो, उसे तो भगवान के भक्त में अवगुण दिखाई ही नहीं पड़ेगा, तथा भक्त के साथ रीस की ग्रन्थि बनेगी ही नहीं। जैसे उद्धवजी यदि भगवान की महिमा को समझते थे, तो उन्होंने ऐसा वर माँगा कि 'इन गोपियों की चरणरज के अधिकारी इस वृन्दावन में लता, तृणों और गुच्छों में से मैं भी कोई हो जाऊँ।' और, श्रीकृष्ण भगवान ने बलदेवजी से कहा है कि वृन्दावन-स्थित वृक्ष, पक्षी तथा मृग आदि अत्यन्त महा भाग्यशाली हैं। तथा ब्रह्मा ने भी श्रीकृष्ण भगवान से यह वर माँगा है कि 'हे प्रभो! इस जन्म में अथवा पशुपक्षी के जन्म में मैं आपके दासों के बीच रहकर आपके चरणारविन्दों की सेवा करता रहूँ, ऐसा मेरा महान भाग्य हो।'

अतः जब कोई पुरुष भगवान के भक्त की ऐसी महिमा समझ लेता है, तब उसके भीतर भगवद्भक्त के प्रति कभी भी अवगुण की ग्रन्थि नहीं बनती, तथा

अपने इष्टदेव जो प्रत्यक्ष भगवान हैं, उनके भक्त में कोई अल्प दोष होगा भी तो महिमा समझनेवाले की दृष्टि उस दोष पर जाती ही नहीं। और, जो भगवान की महिमा को जानता हो, वह तो भगवान के सम्बंध को प्राप्त हुए पशु-पक्षियों तथा वृक्षलता आदि तक को भी जब देवतुल्य माने, तब जो मनुष्य हो और भगवान की भक्ति करता हो तथा व्रत-नियम का पालन करता हो, एवं भगवान का वह नामस्मरण करता हो उसको तो देवसदृश ही मानेगा, तथा उसमें कोई दोष नहीं देखेगा, इसके लिए कहना ही क्या? अतः जो पुरुष भगवान की महिमा को समझता है, उसका भगवान के भक्त के साथ कभी वैर नहीं होता, परन्तु जो भगवान के माहात्म्य को नहीं जानता, उसका भगवद्भक्त के साथ वैर जरूर हो जाता है। अतः जो पुरुष भगवान के तथा भगवान के भक्त के माहात्म्य को नहीं जानता हो, तो उसे सत्संगी होते हुए भी आधा विमुख समझना चाहिए, तथा भगवान एवं भगवान के भक्त की महिमा जो समझता है, उसी को पूर्ण सत्संगी मानना चाहिए।'

89. लोया -10 : निर्विकारिता

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस भक्त ने भगवान के माहात्म्य को अच्छी तरह समझकर अतिशय दृढ़ता के साथ भगवान का आश्रय ग्रहण कर लिया है, उसको तो अन्तःकरणरूपी माया दुःख नहीं देती। किन्तु, जिसको ऐसे आश्रय में शिथिलता रहती है, उसी को यह माया दुःख देती है। जैसे कुसंगी पुरुष अपरिपक्व सत्संगी को पतनोन्मुख करने का आग्रह करता है, किन्तु परिपक्व सत्संगी को गिराने के लिए वह कोई भी लालच नहीं रखता और उसके सुनते कोई भी व्यक्ति सत्संग के बारे में हलका शब्दोच्चार भी नहीं कर सकता; वैसे ही जिस भक्त ने परिपक्वरूप से परमेश्वर का आश्रय लिया है, उसे गिराने का लालच अन्तःकरणरूपी माया नहीं रखती। वह तो उसकी भक्ति की पुष्टि ही करने लगती है। जिसके जीव में वैसा आश्रय ग्रहण करने में कुछ अपरिपक्वता रह गई हो, उसी को वह माया पथभ्रष्ट कर डालती है और दुःख भी देती है। जब वही जीव इस प्रकार परिपक्वरूप से

भगवान का आश्रय ग्रहण कर लेगा, तब माया उसे गिराने और पीड़ित करने में समर्थ नहीं हो पाएगी। इसलिए, इस प्रश्न का उत्तर यही है कि 'जिसे भगवान सम्बंधी ऐसा परिपक्व निश्चय हो चुका है, उसे माया किसी भी प्रकार से दुःख देने में समर्थ होती ही नहीं है।'

90. लोया - 16 : वासना का कुंठित और निर्मूल होना

पुनः श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'यह बताइए कि सन्त के प्रति असद्-भाव किस कारण होता है?' परमहंस इसका यथार्थ उत्तर न दे सके। तब श्रीजीमहाराज ने हि इसका उत्तर इस प्रकार दिया कि 'जो अहंकारी होता है, उसे संत के प्रति असद्भाव हो जाता है। ऐसे अहंकारी का तो ऐसा स्वभाव होता है कि 'जो आदमी उसकी प्रशंसा करता है, उसके एक सौ दोषों की भी उपेक्षा करके वह उसके एक गुण को भी अत्यधिक महत्त्व प्रदान करता है। परन्तु, जो पुरुष उसकी प्रशंसा नहीं करता, उसमें यदि एक सौ गुण भी क्यों न हों, फिर भी वह उसको महत्त्व नहीं देता और उसके साधारण दोष

को भी बड़ा दोष मान लेता है। इस प्रकार, पहले तो वह मन एवं वचन द्वारा द्रोह करता है, तत्पश्चात् देह द्वारा भी द्रोह करता है। अतः मानरूप बड़ा दोष है। और, ऐसी बात नहीं है कि अहंकार की भावना भोले-अबूझ में नहीं होती, और बुद्धिमान में अधिक होती है। वस्तुतः, बुद्धिमान की अपेक्षा भोले में मान की भावना अधिक होती है।’

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि ‘हे महाराज! ऐसा अहंकार किस प्रकार मिट सकता है?’ तब श्रीजीमहाराज बोले कि ‘जो भगवान का माहात्म्य अतिशय रूप से समझ लेता है, उसमें मान की भावना नहीं रहती। देखिये, उद्धवजी कितने चतुर तथा नीतिशास्त्र में कुशल थे। शारीरिक रूप से भी वे राजा जैसे लगते थे। फिर भी, वे भगवान के माहात्म्य को समझते थे। अतः जब उन्होंने भगवान के प्रति गोपियों का स्नेह देखा, तब उनके समक्ष अहंभाव नहीं रखा और वे इस प्रकार बोले कि मेरी यह इच्छा है कि ‘इन गोपियों की चरणरज का जिन वृक्षों, लताओं, तृणों तथा गुच्छों से स्पर्श होता हो, उनमें से मैं भी कोई हो जाऊँ।’

और तुलसीदास ने कहा है कि -

‘तुलसी जाके मुखन से भूले निकसे राम ।

ताके पग की पेहेनियाँ मेरे तनकी चाम ॥’

इस प्रकार जिस पुरुष के मुख से भगवान का नामोच्चार भूल से भी हो जाता है, उसके लिए वे अपने शरीर की चमड़ी का जूता बनवाने के लिए भी उद्यत हो जाते हैं। तब जो भगवान का भक्त हो, तथा जो भगवान का निरन्तर नामस्मरण एवं भजन-कीर्तन-वन्दन कर रहा हो, और भगवान का माहात्म्य जानता हो, तो उनके सामने क्या मान रहेगा? कभी नहीं रहेगा! अतः माहात्म्य को समझ लेने पर अहंभाव मिट जाता है, परन्तु उसको हृदयस्थ किए बिना मान का मूलोच्छेद नहीं हो पाता। अतएव, अपने मान को मिटाने के लिए भगवान तथा सन्त का माहात्म्य समझ लेना चाहिए।’

91. लोया - 17 : स्तुति एवं निंदा

तब श्रीजीमहाराज बोले, ‘विषयों में अरुचि होने का मुख्य साधन परमेश्वर का माहात्म्य है, इसके पश्चात् आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य का स्थान आता है। ‘यह माहात्म्य

कैसा है ? तो सुनिए, भगवान के भय से इन्द्र वर्षा करता है, सूर्य, अग्नि तथा चन्द्रमा प्रकाश प्रदान करते हैं, पृथ्वी सबको धारण कर रही है, समुद्र मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, औषधियाँ ऋतुओं को प्राप्त करके फलदायी बनती हैं। और, जो भगवान जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करते हैं, उनकी शक्ति काल है, माया है, पुरुष है, अक्षर है।' इस प्रकार, जो पुरुष भगवान की महत्ता को समझता है, उसके लिए जगत में ऐसा कौन-सा पदार्थ है, जो उसे बन्धनकारी हो सके ? उसे तो काम, क्रोध, लोभ, मान, ईर्ष्या, स्वाद, उत्तम वस्त्र, धन, स्त्री तथा पंचविषय सम्बन्धी जो अन्य पदार्थ हैं, उनमें से कुछ भी उसे बन्धनकारी नहीं बनता। क्योंकि उसने तो पहले से ही सबका परिमाण कर रखा है कि 'भगवान तो ऐसे हैं, तथा ऐसा उन भगवान के भजन, स्मरण एवं कथा-वार्ता में माल (सुख) है तथा अक्षर तो ऐसा है और उस अक्षर का सुख ऐसा है, और गोलोक, वैकुण्ठ तथा श्वेतद्वीप सम्बन्धी सुख ऐसा है, तथा प्रकृति-पुरुष सम्बन्धी सुख इस प्रकार का है, ब्रह्मलोक सम्बन्धी सुख ऐसा है, स्वर्ग का सुख इस तरह का है तथा राज्यादि

का सुख ऐसा है।' इस प्रकार सभी सुखों का अनुमान लगाकर भगवान सम्बंधी आनन्द को ही सर्वाधिक मानता हुआ जो भगवान की सेवा में ही तत्पर रहता है, उसके लिए ऐसा कौन-सा पदार्थ शेष रह जाता है, जो उसे भगवान के आश्रय से वियुक्त कर दे? कोई भी पदार्थ उसे पतनोन्मुख नहीं कर सकता। जैसे पारसमणि अपने स्पर्श से किसी लौहखंड को सोना बना देती है, उसे वह पुनः लोहा नहीं बना सकती, वैसे ही जिसने भगवान का ऐसा माहात्म्य जान लिया है, वह भगवान द्वारा गिराए जाने पर भी भगवान के चरणारविन्दों से पतनोन्मुख नहीं होता, तब क्या वह किसी अन्य पदार्थ से पतित हो सकता है? नहीं, उसका पतन नहीं हो सकता।

92. पंचाला - 3 : भगवान के प्रति स्नेह की रीति

तब मुनिबाबा ने ब्रह्मानन्द स्वामी से प्रश्न किया कि 'सत्संग तथा भगवान का ऐसा योग मिला है, तथा अन्य समस्त विकार भी नष्ट हो गए हैं, एवं सत्संग में रहने की गरज होने पर भी मान, ईर्ष्या के भाव क्यों रह जाते हैं?'

तब ब्रह्मानन्द स्वामी इसका उत्तर देने लगे, किन्तु यथार्थ उत्तर न दे सके। तब श्रीजीमहाराज बोले कि, 'जो ऐसा है, वह बुद्धिमान ही नहीं है। जो बुद्धिमान होता है, वह अपने में रहकर सभी अवगुणों को जानता है और गुणों को भी जानता है। साथ ही साथ वह दूसरों के गुणों तथा अवगुणों को भी जानता है। तथा जो बुद्धिहीन है, वह केवल अपने गुणों को ही जानता है, लेकिन अपने अवगुणों को नहीं जानता। और, वह स्वयं को सनकादि सदृश महान मानता है और अन्य बड़ों को अपने से हीन समझता है। परन्तु जो बुद्धिमान है, वह अपने अवगुणों को जानता है कि 'मुझमें इतने अवगुण हैं।' इसके पश्चात् उसको मिटाने का आग्रह रखकर वह उन अवगुणों को मिटा देता है। और, जब अन्य सन्त, उसके उन अवगुणों को टालने के सम्बंध में कुछ बातें करें, तो वह उसे हितकारी मानता है। इसीलिए, उसमें मान, ईर्ष्या आदि अवगुण नहीं रहते। और, किसी में बड़ी बुद्धि मालूम होती हो, परन्तु यदि वह अपने अवगुणों पर ध्यान न देता हो, तो उसकी बुद्धि को व्यावहारिक मानना चाहिए। ऐसी बुद्धि बाहर से बहुत सूक्ष्म दीख पड़ती है, फिर भी उसको बुद्धिमान नहीं कहते; उसे अतिमूर्ख ही

समझना चाहिए, क्योंकि उसकी ऐसी बुद्धि उसके मोक्ष के कार्य में उपयोगी नहीं होती! और, किसी में अल्प बुद्धि हो, परन्तु यदि वह अपने अवगुणों को जानकर उन्हें टालने के उपाय करता है, तो उसकी अल्पबुद्धि भी मोक्ष के लिए उपयोगी हो जाती है और वस्तुतः उसी को बुद्धिमान कहना चाहिए। और, जो कभी भी अपने अवगुणों को नहीं देखता और स्वयं के गुणों पर ही जिसकी दृष्टि रहती है, उसे मूर्ख कहते हैं। तथा जो अपने अवगुणों को देखता रहता है, उसे बुद्धिमान कहा जाता है।'

93. गढडा मध्य - 15 : स्वभाव पर शत्रुभाव

तब श्रीजीमहाराज ने समस्त परमहंसों से प्रश्न पूछा कि 'चाहे कैसा ही जड़ स्वभाव हो, किन्तु मात्र एक विचार करने से उस स्वभाव का नाश हो जाए तथा उस विचार को छोड़कर दूसरे सहस्रों विचार करें, फिर भी वह बुरा स्वभाव नहीं मिटे, ऐसा एक कौन-सा विचार है? इस बात पर आप जो समझ रहे हैं, वैसा कहें।' तत्पश्चात् परमहंसों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर दिया, परन्तु यथार्थ उत्तर किसी से भी संभव नहीं हुआ।

तब श्रीजीमहाराज ने कहा, 'चलिये, मैं ही इसका उत्तर देता हूँ।' इतना कहकर उन्होंने बताया कि 'जैसे कोई शत्रु हमारा बनता हुआ काम बिगाड़ दे अथवा हमारी माता और बहन को गालियाँ दे, तब उस पर हमें अत्यधिक क्रोध आता है। प्रतिकार स्वरूप हम जिस उपाय द्वारा उसका अनिष्ट हो, वैसा ही उपाय करने लगते हैं अथवा कोई अन्य व्यक्ति उस शत्रु का कुछ भी बुरा करे, तो हमें अत्यन्त ही प्रसन्नता होती है। जैसे ही जो मोक्ष के लिए यत्न कर रहा हो, ऐसे समय में यदि काम-क्रोधादि आन्तरिक शत्रु विघ्न डालें, तो उन दोषों के प्रति भी उसे वैसी ही वैर-बुद्धि हो जाए तथा उनको मिटा देने की खटक मन से कभी मिटे ही नहीं, ऐसा विचार जिसको प्राप्त हो जाए, उसी विचार द्वारा स्वभावरूपी शत्रु को वह मिटा सकता है। और, जब कोई सन्त उन कामादि शत्रुओं की निन्दा और भर्त्सना करे, ऐसे समय में जिसे पूर्वोक्त विचार सुदृढ़ हो, उसे उस सन्त के प्रति कोई दुर्भाव नहीं होता। बल्कि वह, उस साधु का अधिक से अधिक गुण-ग्रहण करता रहता है कि 'ये साधु मेरे शत्रुओं को मिटाने का उपाय करते हैं, इसलिए, ये मेरे परम हितैषी हैं।' इस प्रकार का विचार जिसके हृदय

में रहा करता हो, तो वह शत्रुमात्र का नाश कर डालता है तथा कोई बुरा स्वभाव उसके हृदय में रह नहीं सकता। इसके अतिरिक्त चाहे जितने भी प्रकार के विचार किये जाएँ, किन्तु उनसे उसके कामादिक स्वभावरूपी शत्रु नहीं नष्ट होते। इसलिए, ऐसे स्वभाव के प्रति शत्रुभाव रखना ही समस्त विचारों में श्रेष्ठ विचार है।'

94. गढडा मध्य - 16 : स्वरूपनिष्ठा एवं धर्मनिष्ठा

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'एक ओर अर्जुन की तरह स्वरूपनिष्ठा है, तो दूसरी ओर राजा युधिष्ठिर की तरह धर्मनिष्ठा है। इन दोनों प्रकार की निष्ठाओं में से यदि कोई स्वरूपनिष्ठा का बल रखता है, तो उसकी धर्मनिष्ठा शिथिल हो जाती है और यदि धर्मनिष्ठा का बल रखता है, तो उसकी स्वरूपनिष्ठा मन्द पड़ जाती है। इसलिए, ऐसा कौन-सा उपाय किया जाना चाहिए, जिससे कि इन दोनों निष्ठाओं में से कोई भी निष्ठा शिथिल न पड़ सके?' तब श्रीजीमहाराज ने कहा

कि 'श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में पृथ्वी और धर्म का जो संवाद है, उसमें यह बताया गया है कि भगवान का स्वरूप सत्य, शुचिता आदि उनचालीस गुणों से युक्त है। अतः समस्त धर्म भगवान की मूर्ति का आश्रय लेकर रहते हैं। इसलिए ही भगवान को धर्मधुरन्धर कहा गया है और श्रीमद्भागवत के उसी स्कन्ध में शौनकादि ऋषियों ने सूत पुराणी से पूछा है कि 'धर्म के कवचस्वरूप श्रीकृष्ण भगवान के अन्तर्धान होने के पश्चात् धर्म किसकी शरण में रहा था?' उसका तात्पर्य यही है कि धर्म भगवान के आश्रय में ही रहता है। इसलिए, जो मुमुक्षु भगवान की निष्ठा रखता है, उसके हृदय में भगवान का स्वरूप भी बना रहता है। इस प्रकार, उसके हृदय में धर्म भी निवास करके रहता है। अतः जो भक्त स्वरूपनिष्ठा रखता है, उसकी धर्मनिष्ठा भी सहजभाव से बनी रहती है। परन्तु यदि उसने एकमात्र धर्मनिष्ठा ही रखी, तो स्वरूपनिष्ठा अवश्य शिथिल पड़ जाएगी। इस कारण बुद्धिमान मुमुक्षु स्वरूपनिष्ठा ही दृढ़ करके रखें, ताकि उसके साथ-साथ धर्मनिष्ठा भी सुदृढ़ बनी रहे।'

95. गढडा मध्य - 29 : भगवान में दृढ आसक्ति

फिर श्रीजीमहाराज ने कहा कि, भगवान के स्वरूप में जिस भक्त का चित्त अत्यन्त आसक्त हुआ हो, उसके ऐसे लक्षण होते हैं कि वह स्वयं लम्बा रास्ता तय करके अत्यधिक थक गया हो और शरीर में बैठने तक की भी शक्ति नहीं रह गई हो, उस समय भी यदि भगवान की वार्ता का कोई प्रसंग छिड़ गया, तो वह उस प्रकार सावधान होकर उस वार्ता को करने और सुनने में तत्पर हो जाता है कि मानो उसने कोई लम्बा सफ़र तय ही नहीं किया था! चाहे कैसे भी रोगादि से पीड़ित हो रहा हो, या चाहे जैसा उसका अपमान हुआ हो, फिर भी वह उस समय यदि भगवान की वार्ता सुनने लगे, तो तुरन्त ही समस्त दुःखों से रहित हो जाता है। और, चाहे वह कैसी भी राज्य-समृद्धि को प्राप्त करके उसमें आसक्त हुआ दिखाई देता हो, परन्तु जिस क्षण वह भगवान की वार्ता को सुने, तो उसी क्षण उसकी ऐसी ही स्थिति बन जाएगी कि मानो उसे किसी का संग ही नहीं हुआ था! इस

प्रकार वह भगवद्वाता सुनने में सावधान हो जाता है। जिस भक्त में ऐसे लक्षण हों, उसके सम्बंध में जान लेना चाहिए कि भगवान में उसकी दृढ़ आसक्ति हो गई है।’

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि ‘भगवान में इस प्रकार की दृढ़ आसक्ति किस प्रकार होती है?’ इसका उत्तर देते हुए श्रीजीमहाराज ने कहा कि ‘या तो पूर्वजन्म का अतिबलवान संस्कार हो अथवा जिस सन्त को भगवान में ऐसी दृढ़ आसक्ति रही हो, उनकी सेवा करके उन्हें प्रसन्न कर लें, तो भगवान में ऐसी दृढ़ आसक्ति हो सकती है। इन दोनों उपायों के सिवा भगवान में आसक्ति करने का अन्य कोई उपाय नहीं है।’

96. गढडा मध्य - 35 : ज्वार की खीँ और कल्याण का सरल उपाय

फिर श्रीजीमहाराज ने कहा कि, ‘और, भगवान की मूर्ति की उपासना, भगवान के चरित्र-गान तथा भगवान के नामस्मरण के बिना केवल धर्म द्वारा कल्याण होने की बात, तो तुम्हे को बाँधकर समुद्र को पार करने

के समान कठिन है। जिसे भगवान की मूर्ति का आश्रय हो तथा जो भगवान के चरित्रों को गाता व सुनता हो और भगवान का नाम-स्मरण करता हो, फिर भी यदि उसमें धर्म-निष्ठा न हो, तो उसे सिर पर पत्थर उठाकर समुद्र को तैरने की इच्छा रखनेवाला समझना, और उसे चांडाल-सा मानना। इसलिए, उन चार बातों द्वारा ही जीव का कल्याण अवश्य हो जाता है। परन्तु उनके सिवाय ऐसा कोई अन्य साधन नहीं है, जिसके द्वारा जीवात्मा का कल्याण हो। हमें मुक्तानन्द स्वामी आदि साधुओं के काव्य एवं भजनों का गान एवं श्रवण करना चाहिए। अन्य (भक्त) कवियों द्वारा विरचित भगवान के चरित्र-युक्त भजन-कीर्तन तथा उनके सदृश जिस-जिसके भजन कीर्तन हों, उनका भी भजन-कीर्तन करें किन्तु कबीर और अखा जैसे कवियों की रचनाओं का न तो गान ही करना चाहिए और न उन्हें सुनना ही चाहिए। और, आप सबका मुझ पर विश्वास है, फिर भी यदि मैं सबको इधर-उधर के उलटे रास्ते पर चढ़ा दूँ, तो ऐसा ही होगा जैसे सबको कुएँ में ढकेलकर उसके ऊपर विशाल शिला को ढक देना! ऐसे समय में किसी

के बाहर निकलने की आशा ही नहीं रह जाती! वैसे ही यदि आप भी मेरे वचनों का विश्वास करके उलटे मार्ग पर भटक जाएँ, तो इससे मेरा क्या भला होगा? अतः यह वार्ता आपके कल्याण के लिए मैंने आपको स्नेहपूर्वक बताई है, इसलिए आप सब अब इसी प्रकार समझकर अपने वर्तन की दृढ़ता बनाए रखना।'

97. गढडा मध्य - 38 : मांचा भक्त की समझ

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'संसारी जीव को कोई धन देनेवाला या पुत्र देनेवाला मिल जाए, तो उसमें तुरन्त प्रतीति आ जाती है, किन्तु भगवान के भक्त को जन्त्र-मन्त्र, नाटक-नौटंकी आदि किसी के भी प्रति रुचि नहीं होती। यदि हरिभक्त हो और वह जन्त्र-मन्त्र में प्रतीति रखता हो, तो उसे सत्संगी होने पर भी अर्ध विमुख ही समझना चाहिए। और, भगवान के जो सच्चे भक्त होते हैं, उनकी संख्या अधिक नहीं होती। भगवान के यथार्थ भक्त तो कारियाणी गाँव के मांचा भक्त थे। वे सत्संगी होने से पहले वामपंथी थे, फिर भी निष्काम

व्रत (ब्रह्मचर्यपालन) में उनकी किसी भी प्रकार की चूक नहीं पड़ी थी। स्वयं बाल-ब्रह्मचारी रहे! एकबार एक कीमियागर उनके घर जाकर ठहरा था। उसने ताँबे से चाँदी बनाकर दिखाई। बाद में उसने माँचा भक्त से कहा कि आप सदाव्रती हैं, इसीलिए आपको यह जड़ी-बूटी दिखाकर चाँदी बनाना सिखा दूँ! तब माँचा भक्त ने लाठी लेकर उस किमियागर को गाँव के बाहर भगा दिया तथा उससे कहा कि हमें भगवान के सिवा किसी भी अन्य पदार्थ की इच्छा नहीं है। बाद में उन भक्त को जब सत्संग का अवसर प्राप्त हुआ, तब वे भगवान के एकांतिक भक्त बने।

98. गढडा मध्य - 40 : एक दंडवत् प्रणाम अधिक

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि प्रतिदिन तो हम श्रीकृष्ण भगवान को प्रणाम करके यह निवेदन करते थे कि 'हे महाराज! इस देहादि में यदि अहं-ममत्व-भाव रहे हों, तो आप उसे मिटा देना।' किन्तु, आज हमें ऐसा विचार हुआ कि यदि भगवान के भक्त के प्रति, मन, वचन तथा

देह द्वारा जाने-अनजाने में कोई द्रोह हो जाए, इससे जीव को जैसा दुःख होता है, वैसा दुःख किसी अन्य पाप से नहीं होता। इसलिए, जाने-अनजाने मन, वचन एवं देह द्वारा भगवान के भक्त के प्रति यदि कोई द्रोह हो गया हो, तो उसके दोष का निवारण करने के लिए ही हमने एक दंडवत् प्रणाम अधिक किया। और, वास्तव में हम ऐसा मानते हैं कि भगवान के भक्त का द्रोह करने से इस मनुष्य का जैसा बुरा होता है और उसे जितना कष्ट सहन करना पड़ता है, वैसा सन्ताप किसी अन्य पाप द्वारा नहीं होता; और मन, वचन तथा शरीर द्वारा भगवान के भक्त की कोई सेवा हो गई, तो इस जीवात्मा का जैसा भला होता है और उसे जितना सुख मिलता है, वैसी सुखानुभूति उसे अन्य किसी साधन द्वारा नहीं होती।' और, भगवान के उस भक्त का द्रोह तो वस्तुतः लोभ, मान, ईर्ष्या और क्रोध इन चार दोषों के कारण हुआ करता है। और भगवद्भक्त का सम्मान होता है, उसमें इन चार दोषों के नहीं रहने से ही होता है! अतः जिसे इस शरीर के रहते हुए या अपनी मृत्यु के बाद भी परम सुखी होना है, उसे मन, वचन और देह से भगवान के भक्त का द्रोह नहीं करना चाहिए। यदि

भगवान के भक्त का कुछ द्रोह हो गया, तो वाणी द्वारा उसकी प्रार्थना करना तथा भूमिसात् होकर पूरे मन से उसे दंडवत् प्रणाम करना तथा पुनः उसका द्रोह न हो जाए, इस बात का सदैव ध्यान रखना।

99. गढडा मध्य - 45 : एकावन प्रकार के मायिक बन्धनों से रहित होना

जब आरती हो चुकी तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीव सात्त्विक कर्म करके देवलोक में जाते हैं। राजस कर्म करके मनुष्य लोक की प्राप्ति होती है तथा तामस कर्म करनेवाले को अधोगति प्राप्त होती है। इस सम्बंध में यदि कोई शंका करे कि 'राजस कर्म करने से जब मनुष्यलोक की प्राप्ति होती है, तब तो समस्त मनुष्यों को एकसमान सुख-दुःख होने चाहिए।' इस शंका का उत्तर यह है कि केवल एक रजोगुण के ही विभिन्न देश-कालादि के कारण अनेक प्रकार के भेद होते हैं, अतः राजस कर्म की एकसमान निश्चितता नहीं रह पाती; क्योंकि जैसे देश, काल, संग और क्रिया का योग होता है, उसी के अनुसार उसके कर्म हुआ करते हैं। उनमें

भी यदि कुछ ऐसा कर्म हो जाए, जिससे भगवान के भक्त, सन्त तथा भगवान के अवतार अप्रसन्न हो जाएँ, तो वह इसी देह से मृत्युलोक में ही यमपुरी जैसे दुःख को भोगता है। परन्तु यदि जीव ऐसा कर्म करे कि जिससे भगवान तथा भगवान के भक्त प्रसन्न हों, तो वह इसी देह से परमपद को प्राप्त होने जैसा आनन्द भोगता है। और, यदि उसने भगवान तथा भगवान के सन्त को अप्रसन्न किया, तो वह चाहे स्वर्ग में जाने योग्य कर्म क्यों न किया हो, किन्तु उसका नाश हो जाता है और उसे नरक में गिरना पड़ता है; यदि उसने भगवान तथा भगवान के सन्त प्रसन्न हों, ऐसा कुछ कर्म कर दिया, तो उसका नरक में जाने योग्य प्रारब्ध हो, फिर भी उसके अशुभ कर्मों का नाश हो जाता है, और वह परमपद को प्राप्त कर लेता है। इसलिए, ज्ञानी पुरुष वैसा ही आचरण करें, जिससे भगवान और भगवान के भक्त प्रसन्न हो जाएँ। और, अपने सम्बन्धी जनों को भी यही उपदेश देना कि 'हमें वही आचरण करना है कि जिससे भगवान तथा भगवान के भक्त हम पर प्रसन्न हों और हम पर उनकी कृपा बनी रहे।'

100. गढडा प्रथम प्रकरण-19 : आत्मनिष्ठा आदि गुणों की अपेक्षा

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'इस सत्संग में अपने आत्यन्तिक कल्याण की इच्छा रखनेवाला जो भक्त है, उसका आत्यन्तिक कल्याण का उद्देश्य केवल एक आत्मनिष्ठा के गुण के द्वारा ही सिद्ध नहीं हो सकता। और, केवल प्रीति यानी स्नेहपूर्वक नौ प्रकार की भक्ति से भी कल्याण का हेतु सिद्ध नहीं होता तथा केवल वैराग्य और अकेला स्वधर्म भी आत्यन्तिक कल्याण के लिए कारगर नहीं होता। इसलिए, कल्याण के लिए आत्मनिष्ठा आदि चार गुणों को सिद्ध करना चाहिए। क्योंकि, इन चारों गुणों को एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है। अब किस तरह इन चारों गुणों को एक-दूसरे की अपेक्षा है वह कहते हैं - आत्मनिष्ठा होने पर भी यदि श्रीहरि में प्रीति न हो, तो उस प्रीति के द्वारा होती श्रीहरि की प्रसन्नता तथा उस प्रसन्नता से प्राप्य महान ऐश्वर्य अर्थात् 'माया के गुणों से पराभूत न हो सकें, ऐसा महान सामर्थ्य' को वह भक्त नहीं पा सकता। और यदि श्रीहरि

में प्रीति हो, परन्तु आत्मनिष्ठा न हो तो देहाभिमान के कारण उस प्रीति की सिद्धि नहीं हो पाती। यदि श्रीहरि में प्रीति भी हो तथा आत्मनिष्ठा भी हो परन्तु दृढ़ वैराग्य न हो तो मायिक पंच-विषय में आसक्ति रह जाती है, और उसी के कारण प्रीति एवं आत्मनिष्ठा की सिद्धि नहीं हो पाती। यदि वैराग्य तो हो, फिर भी यदि भगवत्प्रीति और आत्मनिष्ठा न हो, तो श्रीहरि के स्वरूप से सम्बंधित परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। साथ ही स्वधर्म के रहने पर भी यदि प्रीति, आत्मनिष्ठा और वैराग्य तीनों न रहे तो भूलोक, भुवलोक तथा ब्रह्माजी के लोक तक जो स्वर्गलोक है, उससे आगे जीव की गति नहीं हो पाती, अर्थात् ब्रह्मांड को लांघकर माया के तम से परे जो श्रीहरि का अक्षरधाम है, उसको वह नहीं पाता। इसी प्रकार आत्मनिष्ठा, प्रीति तथा वैराग्य के रहने पर भी यदि स्वधर्म न हो, तो इन तीनों की सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार आत्मनिष्ठा आदि चारों गुणों को एक-दूसरे की अपेक्षा रहा करती है। इसलिए भगवान के एकान्तिक भक्त के सत्संग से जिस भक्त में इन चारों गुण अतिशय सुदृढ़ तौर से रहते हों, मान लें कि उसी भक्त के समस्त

साधन सम्पूर्ण हो गए, तथा उसी को एकान्तिक भक्त समझें।

101. गढडा मध्य - 48 : भगवान का अखंड चिंतन

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'भगवान के स्वरूप का चिन्तन न हो सके, तो भी धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति से युक्त जो साधु हैं, उनके बीच पड़े रहना! हमारे अन्तःकरण में भी यही वासना है कि इस देह के त्याग के बाद पुनः जन्म होने का तो किसी प्रकार का निमित्त नहीं है, फिर भी हम अपने हृदय में ऐसा विचार करते हैं कि 'जन्म लेने का कोई कारण उत्पन्न करके भी सन्त के मध्य में जन्म लेना है!' यही हमारी इच्छा है। और, जिसे इन कीर्तनों के अनुसार भगवत्स्वरूप का चिंतन होता रहता है, वह काल, कर्म तथा माया के पाश से मुक्त हो चुका है। जिनके घर में ऐसे पुरुष ने जन्म लिया हो, तो समझना कि उसके माँ-बाप भी कृतार्थ हुए हैं। परन्तु जो भी भगवान के सिवा अन्य विषयों का चिन्तन करता है, उसे अत्यंत ही पथभ्रमित समझना।

और, जीव जिस-जिस योनि में जाता है, वहाँ स्त्री, पुत्र और धनादि पदार्थ मिलते ही रहते हैं, परन्तु ऐसे ब्रह्मवेत्ता सन्त का संग तथा श्रीवासुदेव भगवान का साक्षात् दर्शन एवं उनका चिन्तन तो अत्यंत दुर्लभ है। अतः जिस प्रकार विषयी जनों के अन्तःकरण में पंचविषयों का चिन्तन हुआ करता है, वैसे ही जिसके हृदय में भगवान का अखंड रूप से चिंतन होता रहे, तो इससे बढ़कर मनुष्य-देह का अन्य कोई लाभ नहीं है! वह तो समस्त हरिभक्तों में मुखिया है। और, उन भक्त का संपर्क शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध नामक पंचविषयों से होता है, तो भी सभी विषय भगवान सम्बंधी ही होते हैं। उसके कान अखंडरूप से भगवान की कथा सुनने के लिए तत्पर रहते हैं। उसकी त्वचा भगवान का स्पर्श करने की इच्छा रखती है, उसके नेत्र भगवान और भगवान के सन्त का दर्शन करने के लिए लालायित रहते हैं, उसकी रसना भगवान के महाप्रसाद का रसास्वादन करने के लिए उत्सुक रहती है और उसकी नासिका भगवान को समर्पित पुष्पों तथा तुलसी की सुगन्ध ग्रहण करने की इच्छुक रहती है। परन्तु वह परमेश्वर के सिवा अन्य

किसी भी वस्तु को सुखदायी जानता ही नहीं है। जो भी साधक इस प्रकार का आचरण करता है, वह भगवान का एकान्तिक भक्त कहलाता है।'

102. गढडा मध्य - 53 : अपना दोष नहीं दीख पाना ही मोह

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'शास्त्रों में वर्णित मोह का रूप यह है कि हृदय में जब मोह व्याप्त होता है, तब जीव को अपना अवगुण सूझता ही नहीं। अतः अपना अवगुण न सूझे, वही मोह का रूप है। और, जीवमात्र को अपने सयानेपन का अत्यंत अहंकार रहता है, परन्तु वह यह विचार नहीं करता कि मुझे अपनी आत्मा का ही पता नहीं है, कि इस शरीर में जो आत्मा है, वह काली है कि गोरी? या लम्बी है कि ठिगनी? फिर भी, मनुष्य बड़े सत्पुरुष अथवा भगवान में भी दोष देखता है तथा यह समझता है कि 'अवश्य ही ये सत्पुरुष अथवा भगवान हैं, परन्तु वे इतना ठीक नहीं करते।' किन्तु, वह मूर्ख ऐसा नहीं जानता कि 'ये भगवान तो अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में रहनेवाले सभी जीवों और

ईश्वरों को हथेली में जल की बूँद के समान देखते हैं। वे अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के आधार हैं, लक्ष्मी के पति हैं, अनन्तकोटि ब्रह्मांड के कर्ता-हर्ता हैं; शेष, शारदा एवं ब्रह्मादि देव भी जिनकी महिमा का पार नहीं पाते, और निगम भी जिनकी महिमा को 'नेति-नेति' बताता है। ऐसे परमेश्वर के चरित्रों तथा भगवान की समझ में जो दोष देखता है, उसे विमुख और अधर्मी जानना तथा मूर्ख का राजा (घोर मूर्ख) समझना चाहिए। वास्तव में भगवान तथा भगवान के भक्त की अलौकिक समझ होती है। उसे देहाभिमानि जीव कैसे समझ सकेगा? इसलिए, वह अपनी मूर्खता के कारण भगवान तथा उनके भक्तों में अवगुण देखकर विमुख हो जाता है। दूसरी ओर उन भगवान के सच्चे भक्त जो सत्पुरुष हैं, वे अलौकिक दृष्टि से युक्त आचरण करते रहते हैं।'

103. गढडा मध्य - 58 : सम्प्रदाय की पुष्टि

तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि 'जो-जो आचार्य हुए हैं, उनके सम्प्रदायों की पुष्टि दीर्घकाल तक किन उपायों द्वारा होती रही है?' उत्तर में मुक्तानन्द स्वामी

ने कहा कि 'एक तो सम्प्रदाय सम्बंधी ग्रन्थ, दूसरा शास्त्रोक्त वर्णाश्रम धर्म तथा तीसरी अपने इष्टदेव के प्रति अतिशय दृढ़ता, इन तीन उपायों के द्वारा अपने सम्प्रदाय की पुष्टि होती रहती है।' यही प्रश्न श्रीजीमहाराज ने ब्रह्मानन्द स्वामी तथा नित्यानन्द स्वामी से भी पूछा, तो उन्होंने भी यही उत्तर दिया। तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'लीजिए, इस प्रश्न का उत्तर हम देते हैं। सम्प्रदाय की पुष्टि इस प्रकार से होती है कि जिस सम्प्रदाय के जो इष्टदेव हों, उनका जिस प्रयोजन से पृथ्वी पर जन्म हुआ हो तथा जन्म-धारण करके उन्होंने जो-जो चरित्र किए हों और जो-जो आचरण किए हों, उन चरित्रों में धर्म भी सहजभाव से आ जाता है और उन इष्टदेव की महिमा भी आ जाती है। इसलिए, अपने इष्टदेव के जन्म से लेकर देहोत्सर्ग पर्यन्त के चरित्रों के शास्त्र द्वारा सम्प्रदाय की पुष्टि होती है। वह शास्त्र संस्कृत में हो या किसी अन्य प्राकृत भाषा में, परन्तु वही ग्रन्थ सम्प्रदाय की पुष्टि करता है। उसके सिवा कोई अन्य ग्रन्थ अपने सम्प्रदाय की पुष्टि नहीं करता। जैसे, श्रीरामचन्द्रजी के उपासकों के लिए वाल्मीकि रामायण द्वारा ही अपने सम्प्रदाय की

पुष्टि होती है तथा श्रीकृष्ण भगवान के उपासकों के लिए भागवत के दशम स्कन्ध द्वारा ही स्व-सम्प्रदाय की पुष्टि होती है, परन्तु श्रीरामचन्द्रजी के उपासकों तथा श्रीकृष्ण के उपासकों के लिए अपने-अपने सम्प्रदायों की पुष्टि वेदों द्वारा संभव नहीं होती। अतः अपने-अपने सम्प्रदायों की रीति सम्बन्धी जो शास्त्र होता है, भविष्य में वही अपने-अपने सम्प्रदायों की पुष्टि करता रहता है।'

104. गढडा मध्य - 61 : पक्का सत्संगी

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसमें तीन गुण हों वह पक्का सत्संगी कहलाता है। वे तीन गुण कौन-से हैं? तो पहली बात यह है कि अपने इष्टदेव ने जो नियम धारण करवाये हों, उन्हें अत्यंत दृढ़तापूर्वक अपना सिर देकर के भी पालन करता रहे, परन्तु उस धर्मनिष्ठा का कभी भी परित्याग न करे। दूसरी बात यह है कि उसे भगवान के स्वरूप का निश्चय अत्यंत दृढ़तापूर्वक हो; उसमें यदि कोई संशय उत्पन्न करना चाहे, तो भी उसे सन्देह उत्पन्न न हो, तथा अपना मन भी संशय उत्पन्न करना चाहे, तो भी कोई संशय न हो,

ऐसा अडिग निश्चय हो। एवं तीसरा अपने इष्टदेव का भजन करनेवाले सत्संगी वैष्णवजनों का जो पक्ष ग्रहण करें; जैसे माता-पिता अपने पुत्र-पुत्री का पक्ष रखते हैं, तथा जैसे पुत्र अपने पिता का पक्ष रखता है, और स्त्री जैसे अपने पति का पक्ष रखती है, वैसे ही भगवान के भक्त का पक्ष रखना चाहिए। जिसमें ये तीन गुण परिपूर्ण रूप से हों, वही पक्का सत्संगी कहलाता है। और, यदि हरिभक्तों की सभा में आकर कोई अग्रस्थान में आसीन होता हो, तब दूसरों को यह मालूम पड़ता है कि, 'यह बड़ा सत्संगी है।' परन्तु, बहुत बड़े की कसौटी यह है कि जो गृहस्थ हो, वह अपना सर्वस्व केवल भगवान तथा भगवान के भक्त के लिए ही समर्पित करके रखे, और यदि सत्संग के लिए अपने प्राणों को न्यौछावर करने की आवश्यकता पड़ जाए, तो वह अपने प्राण भी अर्पण कर दे। और, अपने इष्टदेव जिस क्षण यह आज्ञा दें कि 'तू परमहंस बन जा,' तो वह तुरन्त परमहंस बन जाए! जिसके ऐसे लक्षण हों, वह हरिभक्तों की सभा में अग्रस्थान ग्रहण करे या पीछे बैठे, परन्तु उसी को समस्त हरिभक्तों में अग्रगण्य समझना चाहिए।

105. वरताल - 2 : चार शास्त्रों द्वारा भगवत्स्वरूप का ज्ञान

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि भगवान के स्वरूप का द्रोह न किया जाए, तो वे प्रसन्न हो जाते हैं। तब आप कहेंगे कि द्रोह क्या है ? तो वस्तुतः समस्त जगत के कर्ता-हर्ता भगवान हैं। उन्हें इस प्रकार न समझकर काल, माया, कर्म अथवा स्वभाव को विश्व का कर्ता-हर्ता समझना वही भगवान का द्रोह कहा जाता है, क्योंकि भगवान ही सबके कर्ता-हर्ता हैं। उनका त्याग करके केवल इन सबको - काल, कर्म, स्वभाव और माया को - ही कर्ता मानना भगवान का अतिद्रोह है। जैसे आप गाँव के पटेल हैं और यदि कोई आदमी आपकी मुखियागिरी नहीं रहने दे, तो उसे आपका द्रोही कहा जाएगा। अथवा कोई चक्रवर्ती राजा हो, उसकी आज्ञा का उल्लंघन करके ऐसी व्यक्ति का, आदेश माना जाए, जो राजा न हो, तो वह पुरुष राजा का द्रोही कहलाता है।

और, कोई पुरुष यदि ऐसा पत्र लिख-लिखकर लोगों को भेजे कि 'हमारा राजा बिना नाक-कान का अथवा बिना हाथ-पैर का है।' इस प्रकार राजा का रूप सर्वांग पूर्ण होने पर भी उस रूप को खंडित करके बतानेवाला भी राजा का द्रोही कहा जाएगा, वैसे ही भगवान करचरणादि समग्र अंगों से परिपूर्ण हैं, और उनका कोई अंग लेशमात्र भी खंडित नहीं है, वे सदैव मूर्तिमान ही रहते हैं। यदि उन्हें अकर्ता तथा अरूप कहा जाए और उनकी अवहेलना करके अन्य काल-आदि को कर्ता बताया जाए, तो वही भगवान के विरुद्ध द्रोह है। जिसने भगवान का ऐसा द्रोह नहीं किया है, उसके सम्बंध में यही कहा जाएगा कि उसने वास्तव में भगवान की सम्पूर्णरूप से पूजा कर ली है। इसके बिना उसने चन्दन-पुष्पादि द्वारा ही पूजा क्यों न की हो, परन्तु वह भगवान का द्रोही ही है। अतः भगवान को ही जगत का कर्ता-हर्ता समझे तथा उनको मूर्तिमान माने, उसी के ऊपर भगवान की प्रसन्नता होती है।

106. वरताल - 14 : धर्मिष्ठ तथा पापिष्ठ को समझने का विवेक

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'धर्मशास्त्रों में जो वर्णाश्रम धर्म बताए गए हैं, उन नियमों की मर्यादा से विपरीत आचरण करता हो, उसे सभी लोग कुपात्र मनुष्य समझते हैं; परन्तु उस कुपात्र व्यक्ति के हृदय में यदि भगवान या भगवान के सन्त के प्रति गुणभाव आ जाएँ, तो उसे बड़ा पुण्य प्राप्त होता है, और वर्णाश्रम धर्म के लोप होने पर उसे जो पाप लगा था, उसका नाश हो जाता है तथा वह जीव अत्यन्त पवित्र हो जाता है। इसके पश्चात् उसका चित्त भगवान के स्वरूप में मग्न हो जाता है और उसको समाधि लग जाती है। और, जो पुरुष धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट वर्णाश्रम धर्म का पालन करता है, उसको सब 'धर्मवान्' कहते हैं। फिर भी, यदि वह भगवान तथा भगवान के साधुओं का द्रोह करता हो, तो उसको सत्पुरुष के द्रोह का पाप लग जाता है और वह पाप उसके वर्णाश्रमधर्म के पालन के बाद उसे जो पुण्य

प्राप्त होता था, उस पुण्य को नष्ट कर देता है।' इसलिए, सत्पुरुष का द्रोह करनेवाला पंचमहापाप करनेवालों की अपेक्षा भी घोर पापी है। क्योंकि जिसने पंच-महापाप किए हों, वह यदि सत्पुरुष के आश्रय में आ जाता है, तो उन पापों से उसका छुटकारा हो जाता है, परन्तु सत्पुरुष के द्रोही का कहीं भी छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं मिल सकता। कहा गया है कि अन्य स्थान में किए गए पाप, तीर्थ में जाने पर धुल जाते हैं, किन्तु तीर्थ में किए हुए पाप तो वज्रलेप हो जाते हैं। अतः सत्पुरुष के आश्रय को ग्रहण करने पर चाहे जितना पापी हो, फिर भी अतिपवित्र हो जाता है और उसको समाधि लग जाती है। किन्तु, सत्पुरुष का द्रोही चाहे कितना ही धर्मात्मा दिखाई पड़े, परन्तु वह घोर पापी ही है। उसे तो कभी अपने हृदय में भगवान का दर्शन होता ही नहीं। अतः जिसे विमुख जीव पापी जानते हैं, वह वास्तव में पापी नहीं होता है तथा जिसे विमुख व्यक्ति 'धर्मात्मा' समझते हैं, वह वास्तव में धर्मात्मा नहीं होता।'

107. गढडा अंत्य - 8 : सदैव सुखी रहने के उपाय

बाद में श्रीजीमहाराज बोले कि ' भगवान के भक्त को एक तो दृढ़ वैराग्य हो, और दूसरा अतिशय दृढ़ स्वधर्म हो, तथा इन दोनों साधनों द्वारा समस्त इन्द्रियों को जीत कर अपने वश में कर लिया हो; और, जिसे भगवान और उनके भक्त के प्रति अतिशय प्रीति हो; और, जिसे भगवान एवं भगवद्भक्त के प्रति अत्यंत मित्रभाव हो; और जो कभी भी भगवान और उनके भक्त से उदासीन नहीं रहता हो एवं जो परमेश्वर और उनके भक्त के संग में ही रहना पसन्द करता हो, परंतु किसी भी विमुख जीव का संग उसे अच्छा न लगता हो, ऐसे लक्षण जिस हरिभक्त में हों, वह इस लोक तथा परलोक में सदैव सुखी रहता है।

और, जिसने वैराग्य तथा स्वधर्म द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं किया है, वह भगवान और उनके भक्त के साथ रहता हुआ भी दुःखी ही रहता है। क्योंकि जिसने अपने इन्द्रियों को नहीं जीता हो

उसे कहीं सुख नहीं होता। और, भगवान की भक्ति करने पर भी इन्द्रियों की वृत्तियाँ जब विषयों के प्रवाह में बहती हैं, तब उस भक्त के हृदय में अति दुःख होता है। अतः अपनी समस्त इन्द्रियों को जीतकर वश में करनेवाला ही हमेशा सुखी रहता है। जिसने सभी इन्द्रियों को इस प्रकार अपने वश में कर लिया है, उसी को ही वैराग्यवान और धर्मवान् समझना चाहिए। किन्तु, जिसको अपनी इन्द्रियाँ अपने वश में न हुई हों, तो उसे वैराग्यवान एवं धर्मवान नहीं समझना चाहिए। और, जो वैराग्यवान और धर्मवान हो उसको तो सभी इन्द्रियाँ नियम में होती हैं। इसलिए वह सदैव सुखी रहता है।’

108. वरताल-12 : माहात्म्य सहित निश्चय

इस प्रकार बोले कि ‘आज तो सबसे निश्चय की बात करनी है। उसको आप सब सावधान होकर सुनें कि - अनन्तकोटि सूर्य-चन्द्रमा एवं अग्निसदृश प्रकाशमान जो अक्षरधाम है, उसमें श्रीपुरुषोत्तम भगवान सदैव दिव्यमूर्ति होकर विराजमान रहते हैं। वे ही भगवान जीवों के कल्याण के लिए पृथ्वी पर रामकृष्णादि अवतारों को

धारण करते हैं। तब जिसको उन भगवान के स्वरूप का सत्समागम द्वारा दृढ़ निश्चय हो जाता है, उसका जीव द्वितीया के चन्द्रमा की तरह दिनों-दिन बढ़ता रहता है। और, जिस प्रकार चन्द्रमा में जैसे-जैसे सूर्य की कला आती रहती है, वैसे-वैसे वह चन्द्रमा भी वृद्धि को प्राप्त होता रहता है तथा पूर्णिमा के आने पर चन्द्रमा सम्पूर्ण आकार का हो जाता है, वैसे ही भगवान सम्बन्धी पूर्ण निश्चय होने से पहले जीव अमावास्या के चन्द्रमा की तरह कलारहित खद्योत के समान होता है। परन्तु वह जैसे-जैसे परमेश्वर के महिमा सहित निश्चय को प्राप्त करता है, वैसे-वैसे वृद्धि को प्राप्त होकर पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान हो जाता है। फिर उसे इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण भी उसके निश्चय से डिगाने में समर्थ नहीं हो पाते। तब परमेश्वर चाहे जैसे भी चरित्र करें, परन्तु उसको भगवान में किसी भी प्रकार का दोषाभास नहीं होता। इस प्रकार जिसको महिमा सहित भगवान सम्बन्धी निश्चय हो गया, तो समझ लीजिए कि वह भक्त निर्भय हो चुका। और, यदि उसी भक्त को कभी असत् देश, असत् काल, असत् संग तथा असत् शास्त्रादि के योग

द्वारा अथवा देहाभिमान द्वारा भगवान के चरित्र में सन्देह हो गया, तथा भगवान में दोष दिखाई दिया, तो वह जीव, जो पहले पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह प्रकाशमान था, अमावास्या के चन्द्रमा के समान म्लान हो जाता है। अतः अपने में कुछ थोड़ी-बहुत न्यूनता हो, वह जीव को अधिक बाधा नहीं डालती, किन्तु परमेश्वर के चरित्र में किसी भी प्रकार का सन्देह उत्पन्न हो गया अथवा परमेश्वर का किसी भी तरह से अवगुण दिखाई दिया, तो उस जीव का कल्याण-मार्ग से तत्काल पतन हो जाता है। जैसे वृक्ष की जड़ें कट जाने पर वह वृक्ष अपने आप सूख जाता है, वैसे ही जिसको भगवान में किसी भी प्रकार की दोषबुद्धि हुई, तो वह जीव जिस किसी प्रकार से विमुख हुए बिना नहीं रहता।

109. वरताल-16 : बड़े आदमी के साथ रास नहीं आता

उस समय सभा में वड़ोदरा के शास्त्री भी बैठे हुए थे। उन्होंने कहा कि 'हे महाराज! यदि आप किसी बड़े आदमी को चमत्कार दिखाएँ, तो बहुत शीघ्र सर्वत्र

सत्संग-विकास हो जाएगा।' तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'बड़े आदमी के साथ हमारी अधिक नहीं पटती। क्योंकि उन लोगों को राज्य तथा धन का मद होता है और हमें तो त्याग तथा भक्ति का मद है। इसलिए, कोई किसी के आगे झुके, यह संभव नहीं है। यदि हम किसी बड़े आदमी को समाधि लगवाएँगे, तो वह हमें कुछ गाँवों की जमींदारी दे देगा, ऐसी कोई भी लालच हमारे हृदय में नहीं है। क्योंकि, लोग गाँवों की जमींदारी में सुख की प्राप्ति समझते हैं, जबकि हमें तो नेत्र मींचकर भगवान की मूर्ति का चिन्तन करने से जो आनन्द मिलता है, वैसा आनन्द चौदह लोकों की राज्य प्राप्ति में भी नहीं मिलता। यदि भगवान के भजन करने से प्राप्त होनेवाला आनन्द राज्य-शासन में मिलता होता, तो स्वायम्भुव मनु आदि बड़े-बड़े राजा अपने राज्य का परित्याग करके वन में तप करने के लिए क्यों जाते? तथा भगवान के भजन से प्राप्त होनेवाला आनन्द स्त्री-संग से मिलता होता, तो चित्रकेतु राजा करोड़ों स्त्रियों को क्यों छोड़ देता? और, भगवान के भजनजन्य आनन्द के आगे तो चौदह

लोकों के सुख को नरक-जैसा बताया गया है। अतः जो भक्त भगवान के परमानन्द में डूबा हो, उसे पूरे ब्रह्मांड का विषय-सुख भी नरकतुल्य लगता है। तथा हमें भी भगवान के भजन से प्राप्त आनन्द में ही वास्तविक आनन्द प्रतीत होता है, अन्य सभी सुख, दुःखरूप ही प्रतीत होते हैं। इसलिए, परमेश्वर का भजन-स्मरण करते हुए जिसको सहजभाव से सत्संग हो जाता है उसे सत्संग कराते हैं, परन्तु अन्तःकरण में किसी बात का आग्रह नहीं। आग्रह तो केवल भगवान के भजन का तथा भगवान के भक्त का सत्संग बनाये रखने का ही है। यह हमारे अन्तःकरण का रहस्य अभिप्राय था, जो हमने आपके समक्ष प्रकट किया।’

110. गढडा अंत्य - 14 : लम्बकर्ण बनने की अविवेकी याचना

अब आत्मानन्द स्वामी ने पूछा कि ‘मन में तो यही निश्चय रहता है कि जीवनपर्यन्त हमें परमेश्वर की रुचि के अनुसार ही रहना है। फिर भी ऐसा क्या किया

जाए, जिससे हम पर परमेश्वर तथा सन्त को विश्वास हो जाए?’ तब श्रीजीमहाराज बोले कि ‘परमेश्वर तथा सन्त को विश्वास तब हो सकता है, जब बहुत बीमारी में भी उस भक्त की अच्छी तरह सेवा-चाकरी न हुई हो, फिर भी वह भक्त न तो किसी को दोषी ठहराता हो, और न उद्विग्न ही होता हो; तथा परमेश्वर एवं सन्त कदाचित् बिना किसी दोष के ही उसका अत्यंत अपमान करे, फिर भी वह तनिक भी उनका अवगुण ग्रहण नहीं करता, तब परमेश्वर एवं संत को उसका विश्वास आता है। तीसरा प्रकार यह है कि सत्संग के जितने नियम हैं, उनका यदि लेशमात्र भी उल्लंघन हो जाए, तो अत्यंत दुःखी होकर उसका प्रायश्चित्त तत्काल कर डालता है। मन में यदि लेशमात्र भी कोई कुसंकल्प उत्पन्न हो गया, तो उसे उतने ही दुःख एवं त्रास की अनुभूति होती हो, जितना कष्ट तथा दुःख किसी को पंचव्रतों के भंग होने पर हुआ करता है। ऐसी स्थिति होने पर ही परमेश्वर तथा सन्त को उस पर परिपूर्ण विश्वास हो जाता है कि ‘यह भक्त कभी भी सत्संग से विचलित नहीं होगा।’

111. गढडा प्रथम - 44 : परमेश्वर में दृढ़ प्रीति तथा देहरूप अंगरखा

इसके बाद गाँव वसो के विप्र वालाध्रुव ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! देह तथा देह के सम्बंधियों में अहंता-ममता के जो संकल्प होते रहते हैं, उन्हें कैसे मिटाया जाए?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'वह तो जीव को विपरीत भावना हुई है कि वह स्वयं को देह से पृथक् रहनेवाली जीवात्मा नहीं समझता, किन्तु देहरूप ही समझता है! और, उस जीवात्मा में देहभाव किस प्रकार लिपटा हुआ है, वह बताते हैं। जिस प्रकार कोई पुरुष दर्जी के घर जाकर अंगरखा सिलाता है, और उसे पहनकर यदि वह माने कि 'दर्जी मेरा बाप है और दर्जिन मेरी माँ है।' तो वह मूर्ख ही कहलाता है। उसी प्रकार इस जीव का यह देहरूपी जो अंगरखा है, वह कभी ब्राह्मण और ब्राह्मणी से उत्पन्न होता है, और कभी उसकी उत्पत्ति नीच जाति से होती है तथा चौरासी लाख योनियों से देह उत्पन्न होती है। यदि उस देह में जो

अहंभाव रखता है और उस देह के माँ-बाप को अपना माँ-बाप समझता है, तो वह मूर्ख कहलाता है, और उसे पशु के समान समझा जाना चाहिए। तथा, चौरासी लाख योनियों में अपनी जो माताएँ, बहनें, लड़कियाँ और स्त्रियाँ होती हैं, उनमें से कोई भी पतिव्रता के धर्म का पालन नहीं करती। अतः जो ऐसे सम्बंध को सच्चा मानता है, उसके अहंता एवं ममता के संकल्प कैसे मिटेंगे? और इस प्रकार की समझ के बिना जन्मभूमि की वासना को मिटाना अत्यन्त कठिन है। तथा, जब तक देह को अपना स्वरूप मानता रहता है, तब तक उसकी समस्त समझ वृथा ही रहती है।

112. गढडा प्रथम - 53 : उन्नति और अवनति

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'कोई तो सत्संग में रहकर दिन-प्रतिदिन उन्नति करता रहता है और किसी की सत्संग में रहने पर भी दिन-प्रतिदिन अवनति होती रहती है। इसका क्या कारण है?' तब श्रीजीमहाराज बोले, 'महान साधु में अवगुण देखनेवाला

हमेशा अवनति पाता रहता है, और उन साधु के गुणों को ग्रहण करनेवाले की उन्नति होती रहती है और भगवान में उसकी भक्ति भी बढ़ती जाती है। अतः उन साधु में अवगुण नहीं देखना चाहिए। बल्कि उनके गुणों को ही ग्रहण करना चाहिए। यदि साधु, परमेश्वर द्वारा निर्धारित पंचव्रतों की मर्यादाओं में से किसी मर्यादा का उल्लंघन करे, तभी उसमें अवगुण समझना ठीक है, परन्तु पंचव्रतों का उन्होंने तनिक भी उल्लंघन न किया हो, और केवल उनकी स्वाभाविक प्रकृति ठीक न लगे, इतने भर अवगुण को देखकर यदि कोई उन साधु के अन्य अनेक गुणों की उपेक्षा करके, उनका केवल अवगुण ही ग्रहण करता है, तो उस दोष को देखनेवाले के ज्ञान-वैराग्य आदि शुभ गुण कम हो जाते हैं। इसलिए, पंचव्रतों के पालन में कोई अन्तर दिखाई पड़ने पर ही साधु का अवगुण समझना, किन्तु भगवान के भक्त का यों ही अवगुण नहीं देखना चाहिए। यदि वह अवगुण नहीं देखता है, तो उसके शुभ गुणों की दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती रहती है।’

113. गढडा प्रथम - 63 : भगवान का तत्त्वतः निश्चय

श्रीजीमहाराज पुनः बोले, 'जिसे अत्यन्त दृढ निश्चय है, उसके लक्षण संक्षेप में कहता हूँ, उसे सुनिये। परिपक्व निश्चयवाले का प्रथम लक्षण यह है कि स्वयं अत्यन्त त्यागी होने पर भी उससे चाहे जितनी प्रवृत्तिमार्ग की क्रिया कराई जाए तो वह करता है, किन्तु करने से पीछे नहीं हटता और बे-मन होकर नहीं, बल्कि प्रसन्नतापूर्वक करता है। दूसरा लक्षण यह है कि उसका चाहे जैसा स्वभाव हो, और कोटि उपाय करने पर भी वह स्वभाव न टलता हो, परन्तु उस स्वभाव को छोड़ देने के लिए परमेश्वर का आग्रह देखें, तो वह उस बुरे स्वभाव का तत्काल परित्याग कर डालता है। तीसरा लक्षण यह है कि अपने में कुछ अवगुण होते हुए भी परमेश्वर के कथा-कीर्तन तथा भगवान के सन्त के बिना घड़ी भर भी वह नहीं रह सकता और अपना अवगुण देखता है, तथा सन्त का अधिक से अधिक गुण ग्रहण करता है। और, भगवान की कथा, कीर्तन और उनके सन्त की अति अधिक महिमा समझता है, ऐसा जिसका

दृढ़ आचरण होता है उसका निश्चय परिपक्व समझना चाहिए। ऐसा निश्चयवान भक्त यदि प्रारब्धवश कभी अपने आचरण से च्युत भले ही हो जाए, परन्तु उसका अकल्याण नहीं होता। यदि ऐसा निश्चय न रहे, तो चाहे कैसा भी त्यागी हो तो भी उसका कल्याण नहीं होता।’

114. सारंगपुर - 18 : खार भूमि

तब श्रीजीमहाराज बोले, ‘जब बाल-अवस्था होती है, तब काम-क्रोध-लोभादि शत्रु नहीं होते और भगवान से भी विशेष प्रीति बनी रहती है। फिर जब युवावस्था आती है, तब कामादि शत्रु बढ़ जाते हैं तथा देहाभिमान भी बढ़ जाता है। बाद में यदि वह कामादि शत्रुओं तथा देहाभिमान से रहित सन्त का संग करता है, तो वह युवावस्थारूपी समुद्र को पार कर लेता है। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो कामादि शत्रुओं द्वारा पराजित होने पर भ्रष्ट हो जाता है। और, जिसकी प्रौढ़ावस्था हो और सत्संग करने पर भी यदि वह पथभ्रष्ट होता है, तो उसका कारण यह है कि ऐसा मनुष्य सत्पुरुष में जिस-जिस तरह के दोषों की कल्पना करता है, उस-उस प्रकार के

दोष हृदय में आकर समा जाते हैं। यदि वह बड़े सत्पुरुष के गुणों का ग्रहण कर ले और ऐसा माने कि 'सत्पुरुष जो जो स्वभाव रखते हैं, वह तो जीवों के कल्याण के लिए हैं। बड़े सत्पुरुष तो निर्दोष हैं। मुझे उनमें जो दोष दिखाई पड़ा, वह तो मेरी कुमति की कल्पनामात्र है।' ऐसा विचार करके सत्पुरुष के गुणों को ग्रहण करें और अपने अपराध के लिए उनसे क्षमायाचना करें। ऐसा करने से उस पुरुष की मलिनता मिट जाती है।'

115. कारियाणी - 5 : अवतार-धारण का प्रयोजन

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'भगवान का अवतार-धारण करने का प्रयोजन यही है कि वे अपने से अत्यन्त प्रीति रखनेवाले भक्तजनों की भक्ति के अधीन होकर उन्हें सुख देने के लिए, उनकी इच्छा के अनुसार ही रूप धारण करते हैं और भक्तों के जो मनोरथ होते हैं, उन्हें पूर्ण करते हैं। और, भगवान के जो भक्त हैं, वे तो स्थूलभाव से युक्त हैं, तथा वे सब देहधारी होने के कारण भगवान भी स्थूलभाव को धारण करके देहधारी के समान हो जाते हैं, तथा वे

अपने भक्तों से लाड़-दुलार करते हैं और अपने सामर्थ्य को छिपाकर उन भक्तों के साथ पुत्र-भाव से व्यवहार करते हैं अथवा सखाभाव से या मित्र-भाव से व्यवहार करते हैं। अथवा अपने सम्बन्धीजन के समान व्यवहार करते हैं। इसी कारण, उस भक्त को भगवान की अधिक मर्यादा नहीं रहती। इसके पश्चात् भगवान अपने इन भक्तों की जैसी इच्छा होती है, तदनुसार इनसे लाड़-दुलार करते हैं। अतः भगवान के अवतार धारण करने का (प्रधान) उद्देश्य तो यही है कि अपने प्रेमी भक्तों के मनोरथ पूर्ण करना। इसके साथ-साथ ही वे असंख्य जीवों का कल्याण भी करते हैं। और, धर्म की स्थापना भी करते हैं।

116. कारियाणी - 12 : इमली के चीयें का दृष्टांत; कारण शरीर का नाश

फिर श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'चाहे कैसा ही कामी, क्रोधी, लोभी और लम्पट जीव हो, वह यदि इस प्रकार की बातों में विश्वास रखकर इसे प्रीतिपूर्वक सुनता है, तो उसके सभी विकार मिट जाते हैं। जैसे किसी पुरुष के दाँत पहले तो इतने मज़बूत होते हैं कि वह कच्चे चने चबा

जाता है, परन्तु वह यदि कच्चा आम अच्छी तरह खा ले, तो भात भी चबाकर नहीं खा सकेगा। ठीक वैसे कामादि में आसक्त कैसा ही पुरुष क्यों न हो, वह यदि आस्तिक होकर इस वार्ता को श्रद्धापूर्वक सुनता है, तो ऐसा पुरुष विषयों के सुख को भोगने में समर्थ नहीं होता। यदि वह तप्तकृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत द्वारा अपनी देह को कृश बना दे, तो भी उसका मन वैसा निर्विषयी नहीं हो पाता, जैसा कि ऐसी भगवद्वाता सुननेवाले मनुष्य का मन निर्विषयी हो जाया करता है। ऐसी बात सुनने के बाद आप सबका मन जिस प्रकार निर्विकल्प हो जाता होगा, वैसा तो ध्यान करते हुए अथवा माला फेरते हुए भी निर्विकल्प नहीं होता होगा। इसीलिए, विश्वासपूर्वक, प्रीति सहित जो भगवान् पुरुषोत्तम नारायण की वार्ता को सुनना, इससे बढ़कर मन को स्थिर रखने का तथा निर्विषयी बनाने का अन्य कोई बड़ा साधन नहीं है।'

117. लोया - 5 : इन्द्रिय-अंतःकरण पर जीत

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'कैसा मनोभाव हो, जो भगवान् सम्बंधी निश्चय तथा व्रतपालन, इन

दोनों से भक्त को पतनोन्मुख करे, और कौन-सा संकल्प होने पर भी पतन नहीं होता? और किस अवधि तक उस संकल्प के रहने से भक्त धर्मच्युत हो जाता है तथा भगवान् सम्बन्धी निश्चय से भी उसका पतन हो जाता है?’ परमहंस इस प्रश्न के भी उत्तर नहीं दे सके। तब श्रीजीमहाराज बोले कि ‘कोई संकल्प ऐसा होता है, जो मिटाने का यत्न करने पर भी नहीं मिट पाता, ऐसा कोई अनुचित संकल्प धर्मपालन करने में विघ्न कर रहा हो, जो पन्द्रह दिन या एक मास तक मन में नहीं आता, किन्तु न जाने कब वह उत्पन्न हो जाता है! ऐसा जो संकल्प होता है, वह व्यक्ति को धर्मच्युत कर डालता है। और, भगवान् सम्बन्धी निश्चय के विषय में भी यही समझना चाहिए। तथा बुरे संकल्प को उत्पन्न होने के बाद तुरन्त यदि विचार द्वारा ऐसे मिटाया जाए, जो पुनः उत्पन्न ही न होने पाए, तो ऐसा संकल्प न तो धर्म से और न ही निश्चय से उस पुरुष को पतन के गर्त में गिरा सकता है।’ पुनः श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि ‘सत्संग में किसकी नींव सुदृढ़ रहती है और किसकी सुदृढ़ नहीं रहती?’ इस प्रश्न का भी उत्तर परमहंस न दे सके। तब

श्रीजीमहाराज ने उत्तर दिया कि 'जिस प्रकार दत्तात्रेय ने पंचभूत, चन्द्रमा, पशु, वेश्या, कुमारी तथा अपनी देह आदि में से भी गुण ग्रहण किये थे; ठीक उसी तरह, सन्त में से गुण ग्रहण करने का जिसका स्वभाव बन गया हो, उसी की नींव सत्संग में सुदृढ़ होती है। जिसे सन्त से गुण ग्रहण करने का स्वभाव नहीं होता, वह तो सत्संग में रहा है फिर भी उसकी नींव सुदृढ़ नहीं है।'

118. गढडा मध्य - 32 : कुटुम्बीजनों का सम्बंध

उस समय श्रीजीमहाराज सब हरिभक्तों को संकेत करके बोले कि 'इस संसार में अपने कुटुम्बीजनों के साथ जो सम्बंध है, वह तो थूहर के वृक्ष अथवा बरगद या पीपल की शाखा की तरह है। जो एक स्थान से काटकर दूसरे स्थान पर रोप दिया, तो उगकर वृक्ष हो जाता है। अगर आम और नीम को एक बार काट दिया, तो वह फिर नहीं उगता। वैसे ही कुटुम्बीजनों के सिवा अन्य व्यक्ति का जो सम्बंध है, वह आम्रवृक्ष के समान

है, जिसे एक बार काट दिया, तो दूसरी बार उगने की संभावना नहीं है। किन्तु, कुटुम्बियों का सम्बंध थूहर और बड़ के पेड़ की भाँति है, जो काट दिए जाने पर भी धरती पर पड़े-पड़े पल्लवित हुए बिना नहीं रहता। वह कौटुम्बिक सम्बंध तब मिटता है, जब स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीन शरीरों से भिन्न जीवात्मा को अपना स्वरूप समझकर और उस जीवात्मा में भगवान की मूर्ति को धारण करके तथा जाति, वर्ण एवं आश्रम के मान को छोड़कर केवल भगवान के स्मरण में तल्लीन हो जाए, तो कुटुम्बीजनों का सम्बंध भली भाँति मिट सकता है। इसके सिवा इस सम्बंध की समाप्ति के लिए अन्य कोई भी उपाय नहीं है।

और, जीव का कल्याण हो जाए तथा जीव माया को पार करके ब्रह्मस्वरूप हो जाए, इसका कारण पुरुषोत्तम वासुदेव भगवान के प्रत्यक्ष स्वरूप का ज्ञान, ध्यान, कीर्तन तथा कथा आदि ही हैं। इन उपायों के द्वारा ही जीव माया को पार करके अति महत्ता को प्राप्त कर लेता है तथा भगवान के अक्षरधाम को प्राप्त कर लेता है।

119. गढडा मध्य - 37 : स्वाभाविक प्रकृति

उस समय श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि गीता में कहा गया है कि ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार आचरण करता है तथा शास्त्रों के द्वारा कहा हुआ निग्रह शिथिल हो जाता है। अतः निग्रह का जोर नहीं चल पाता। ऐसी जो स्वाभाविक प्रकृति है, वह कौन-से उपाय द्वारा टल सकती है?’ इस प्रश्न पर समस्त मुनिमंडल ने विचार किया, परन्तु उन्हें श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान करना संभव नहीं लगा। तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि ‘इसका उत्तर इस प्रकार है कि उस स्वभाव से छुटकारा दिलाने के लिए सत्पुरुष जो उपदेश देते हों, उनके वचन में अतिशय विश्वास हो, उपदेशकर्ता पर श्रोताजनों की अत्यंत प्रीति हो, तथा उपदेश करनेवाले (सत्पुरुष) चाहे जितना दुःख पहुँचाकर कितने ही कटु वचन कहे, तो भी उनको हितकारी ही मानता रहता हो तो मुमुक्षु की स्वाभाविक प्रकृति का भी नाश हो जाता है। परन्तु, इसके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है। इसलिए, जिसे अपनी प्रकृति को टालने की इच्छा हो,

उसे परमेश्वर तथा सत्पुरुष, उसके स्वभाव को टालने के लिए चाहे कितना ही तिरस्कार करें और चाहे कितने ही कटु वचन कहें, तो भी किसी प्रकार का दुःख नहीं मानना चाहिए, परन्तु उपदेश देनेवाले के गुणों का ही ग्रहण करना। यदि कोई इस प्रकार रहे, तो टालने में असंभव-सी प्रकृति का भी नाश हो जाता है।’

120. वरताल - 19 : भक्त की व्याख्या और अविवेक

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ‘सुनिये, भगवान की वार्ता करते हैं। इस जीव को जब भरतखंड में मनुष्यदेह मिलती है तब भगवान के अवतार या भगवान के साधु निश्चित रूप से पृथ्वी पर विचरण करते रहते हैं। यदि जीव को उनकी पहचान हो जाए, तो वह जीव भगवान का भक्त हो जाता है। जब वह भगवान का भक्त हो चुका, उसको अन्य किसी भी पदार्थ में प्रीति रखना उचित नहीं है। क्योंकि, भगवान के धाम के सुख के आगे मायिक पंचविषयों का सुख तो नरक तुल्य है। नरक के कीड़े तो नरक को परम सुखदायी समझते हैं। परन्तु, जो

मनुष्य हैं, वे नरक को परम दुःखदायी समझते हैं। वैसे ही जिसको भगवान की पहचान हो गई, वह भगवान का पार्षद हो गया! उसे भगवान के पार्षद पद से हटकर गंदे कीड़े की तरह मायिक पंचविषयों के सुख की इच्छा नहीं करनी चाहिए। जो पुरुष भगवान का भक्त होता है, वह जो-जो मनोरथ करता है, वह सब सत्य हो जाते हैं। अतः जो पुरुष भगवान को छोड़कर अज्ञानवश अन्य पदार्थों की इच्छा करता है, वही उसका घोर अविवेक होता है। इसलिए, भगवान के भक्त को चौदह लोकों के भोगसुखों को काकविष्टा तुल्य समझना चाहिए तथा मन, कर्म और वचन द्वारा भगवान एवं भगवान के भक्तों में ही दृढ़ प्रीति करनी चाहिए।

